श्रीहरिः

श्रीधर्मसंघशिक्षामण्डल-ग्रन्थमाला—१

संघर्ष और शान्ति

स्वामी करपात्रीजी

श्री सन्तशरण वेदान्ती
वेदान्तवाचस्पति



वि० सं० २०

प्रकाशक—

श्री सन्तशरण वेदान्ती

श्रीधर्मसंघशिक्षामण्डल, दुर्गाकुण्ड

वाराणसी।

द्वितीय-संस्करण

मूल्य ४-००

मुद्रक :—

वीरभद्र मिश्र

सन्मार्ग प्रेस

वाराणसी।

॥ श्री हरिः॥

सम्पादकीय

धर्म सम्राट् अभिनव शंकराचार्य पूज्य श्री स्वामी करपात्री जी महाराज की जो पुस्तकें अबतक छपी थीं उनमें कतिपय पुस्तकें अब दुष्प्राप्य हैं। इधर जो पुस्तकें छपी हैं वे सर्व-साधारण के लिए सुगम नहीं है। सर्व साधारण भक्तों एवं विचारकों के हित की दृष्टि से पूज्य श्री स्वामी जी महाराज द्वारा लिखित संघर्ष और शान्ति नामक पुस्तक का यह द्वितीय संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है। महाराजश्री द्वारा लिखित विद्वतापूर्ण लेख एवं भाषण से सनातनधर्म जगत सुपरिचित है। इस पुस्तक में विभिन्न विषयों पर २७ सत्ताइस लेखों का संग्रह अनुपम है। हिन्दी में ज्ञान, वैराग्य एवं भक्ति के उत्कृष्ट सिद्धान्तों का इतना सुस्पष्ट विवेचन अन्यत्र दुर्लभ है। पूज्य श्री स्वामी जी की यह लोकोत्तर विशेषता है कि प्राणियों के कल्याणार्थ जो भी लिखते या बोलते हैं उसमें वेद शास्त्रों के गहन तत्त्वों का प्रतिपादन ही दृष्टिगोचर होता है। यहां स्वेच्छाचारिता की कोई गुंजाइश नहीं है। लौकिक-पारलौकिक आभ्युदय तथा निःश्रेयस के साधन में यह पुस्तक बड़ी सहायक सिद्ध हुई है, अतएव लोक कल्याण की भावना से "पुस्तक प्रकाशन" का यह प्रयास मंगल दायक होगा।

सन्तशरण वेदान्ती
धर्मसंघ प्रकाशन विभाग
दुर्गाकुण्ड वाराणसी

लेख-सूची

संख्या	लेखनाम	पृष्ठसंख्या

संघर्ष और शान्ति

[illegible]



धर्म सम्राट् पूज्य स्वामी श्री करपात्रीजी महाराज

प्राणों का लक्ष्य

संसार के समस्त जीवों का आनन्दकन्द सच्चिदानन्द घन से वैसा ही सम्बन्ध है, जैसा तरङ्ग का समुद्र से। दोनों की समता है, विषमता नहीं। पर अज्ञ प्राणी इसे नहीं समझता। जीवरूप कान्ता का परब्रह्मरूप कान्त के साथ नित्य सम्बन्ध है। जीव को परब्रह्म की ओर जाने की स्वतः प्रवृत्ति जब होती है, तब वह शालग्राम आदि मूर्तियों को सामने रखकर भगवान् का ध्यान करता है। मूर्ति इसलिए रखी जाती है कि साधक का ध्यान परब्रह्मबोधकमूर्ति से हटकर कहीं अन्यत्र विचरण न करे। ईश्वरबुद्धि से शालग्राम का अर्चन-वन्दन होता है। सात्त्विकी दृष्टिवाले तो उस अर्चन-वन्दन में सफल होकर ईश्वरत्व को प्राप्त कर लेते हैं, पर जिनकी दृष्टि लौकिकी है, वे लोकमाया में, पुत्र, कलत्र, धन आदि के चक्कर में फँसकर मूल वस्तु निर्विशेष परब्रह्म से बहुत दूर रहते हैं। स्वारसिकी प्रवृत्ति ईश्वर के सान्निध्य में पहुँचाने में जीव की बड़ी सहायता करती है; विधि-निषेधात्मक शास्त्रबद्ध प्रवृत्ति कुछ और ढङ्ग की होती है। स्वारसिकी प्रवृत्ति सुदृढ़ प्रेम की जननी है। प्राणियों का सहज अनुराग जैसे संसार के अन्य-अन्य विषयों की ओर लगा रहता है, वैसे ही यदि उनका परब्रह्म के साथ स्वारसिकी प्रवृत्ति द्वारा सहज अनुराग होने लगे, तो फिर कहना ही क्या है? शास्त्रतन्त्रता को तिलाञ्जलि देकर स्वयं उच्छृङ्खल बनना भी ठीक नहीं है। लौकिक-प्राकृत पदार्थों में स्वारसिकी प्रवृत्ति है स्वाभाविक, पर वह बड़ी ही अनर्थकर होती है।

वही परब्रह्म परमात्मा में बड़े प्रयत्न से प्राप्त होती हैं। अभ्यास के अद्भुत परिपाक और बड़े प्रयत्न से नित्य, शुद्ध, बुद्ध, चैतन्य परब्रह्म में जीव की क्रीड़ा होती है। यह कोई सरल काम नहीं है। इसके लिए सब से पहले श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए। विषयी एवं अविवेकी पुरुष को जिस प्रकार विषय में आनन्द आता है, वैसे ही महानुभावों को शुद्ध, ब्रह्म परमात्मा में आता है। ऐसे मनुष्य सचमुच बड़े भाग्यशाली हैं। ईश्वरप्राप्ति के अभ्यास में क्षणमात्र की भी मनोविकृति मनुष्य को वहाँतक पहुँचने में बाधक सिद्ध होती है। जैसी प्रवृत्ति जीव की विषयों की ओर हठात् होती है, वैसी ही खींच हठात् भगवान् में होनी चाहिए। बिना प्रयत्न किये मन विषयों से हटकर हठात् परब्रह्म की ओर जाने लगे, यही वास्तव में भगवान के प्रति प्रीति है। यही अनन्त मुक्तों, अनन्त सिद्धों में परम आदरणीय सिद्धि है। अन्तरङ्ग प्राणियों को यह बात आसानी के साथ समझ में आ जायगी, पर बहिरङ्ग प्राणियों को नहीं।

अन्तरङ्गता, शास्त्रों तथा वेदों का घर बैठे अपने आप अध्ययन करने से नहीं, सद्गुरु द्वारा प्राप्त होती है। कोई मनुष्य समुद्र में जाय, तो उसे सिवा खारे जल के मीठा थोड़े ही मिलेगा ? मधुरता का स्वाद उसे उसमें तबतक न मिलेगा, जबतक उसी जल को मेघ लाकर न दे। इसी प्रकार जिनको व्याकरण का भी साधारण ज्ञान नहीं, वे यदि 'भागवत', 'उपनिषद्' जैसे गम्भीर ग्रन्थों को स्वयं देखें, तो उनमें उन्हें उत्तमोत्तम, दिव्य तत्व देखने को कैसे मिलेंगे ? आजकल शास्त्रों के सम्बन्ध में आक्षेप करनेवाले भी उसके तात्विक अर्थ को समझ नहीं पाते। तभी

वे अर्थ को अनर्थ बतलाते हैं। यदि योग्य गुरु द्वारा शास्त्रों को पढ़ा जाय, उनके अर्थों पर मनन किया जाय, तो आज दिन जो धार्मिक अत्याचार होते दिखायी दे रहे हैं, उनका अन्त हो जाय। बिना गुरु किये अपने आप शास्त्रों का विवेचन करने से अनेक प्रकार के दुर्भावों की कल्पना होती है। प्राणी की आँखों पर जैसे उपनेत्र लगे रहते हैं, वैसी वस्तु दिखायी देती है। पित्तदोष से दूषित रसना से मधुरातिमधुर पदार्थ भी तिक्त हो जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। दूषित कल्पना से दूषित अर्थ ही समझ पड़ता है और शास्त्र के यथार्थ तात्त्विक रहस्य से वञ्चित ही रहना पड़ता है। मनमानी कल्पना करने से तत्त्व उपलब्ध नहीं होता। वास्तविक अर्थ छोड़कर अन्य अर्थ समझने से दुष्परिणाम ही फैलता है। उदाहरणार्थ 'रासपञ्चाध्यायी' शास्त्र, वेद आदि ग्रन्थ स्वयं देखने के नहीं हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी की रामायण लोग भले ही स्वयं पढ़ लें, पर उसके भी अर्थ के अनर्थ करनेवाले लोग विद्यमान हैं। गोस्वामीजी कहते हैं—

'नहि कलि कर्म न धर्म विवेकू रामनाम अवलम्बन एकू'

तो क्या कलियुग में सन्ध्या, पूजन, जप, तप, कर्म, धर्म बन्दकर एकमात्र राम ही राम की रट लगाने का अभिप्राय गोस्वामीजी का है? तब तो फिर बच्चे लोग पढ़ना-लिखना तथा अनेक प्रकार के अपने काम छोड़कर रामनाम का ही जप बराबर किया करें। वास्तव में बात यह नहीं है। केवल नाम का समाश्रयण चतुर्थ आश्रमियों को ही करना चाहिए, अनधिकारियों को नहीं। कहने का तात्पर्य यह नहीं कि बच्चे नाम लेना बन्द कर दें। लें, पर समय से। यह नहीं कि सब काम छोड़-

कर तोते की तरह 'राम-राम' ही रटते रहे। गोस्वामीजी का यह अभिप्राय कदापि नहीं था। इसके लिए भी समय है। कुसमय पर नाम लेना हानिकर है। जैसे 'रामनाम सत्य है' या 'राम राम'। बात तो बिलकुल ठीक है, पर किसी मङ्गलमय कृत्य में, विवाह, पुत्रजन्म आदि अवसरों पर इस के कहने का निषेध है। इसी प्रकार जिन लोगों को रामनाम के भजन का अधिकारी शास्त्रों ने बतलाया है, उन्हीं को यह अभ्यास करना चाहिए। भगवत्प्राप्ति की सिद्धि शास्त्राज्ञा मानकर चलने से ही होती है, यह नहीं कि बालकों को सन्ध्यावन्दन, जप, तप आदि से एकदम अलग कर दिया जाय। ऐसा करने से तो अन्त में कुछ भी हाथ न आयेगा।

अतः पूर्वापर की बातों को समझने से गोस्वामीजी की सम्मति ऐसी नहीं मालूम होती, जैसी आजकल कुछ लोग कहते फिरते हैं। वाक्यों के पूर्वापर से अभिप्राय समझ बिना अनर्थ करना भारी मूर्खता है। गुरु के आश्रम से ही असली अर्थ समझना चाहिये। तब शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव परब्रह्म में पर्यवसान और स्थिति होती है। ध्यानजन्य समाधान के प्राप्त होने पर साधक को उसके द्वारा शुद्ध, बुद्ध परब्रह्म में वेदों का तात्पर्य निर्धारण होता है। ध्यान के कारण ही अच्युत (स्वरूप से जो न गिरे, गुणदोषविरहित, शुद्ध चैतन्य) की प्राप्ति होती है। केवल श्रवण से साधक साध्य को नहीं पा सकता, क्योंकि इसमें सुदृढ़ता नहीं रहती, सुदृढ़ता तो मनन से ही होती है। साधक के लिए परममङ्गलमय बात यही है कि वह सर्वदा अपने प्रियतम के साथ रहे। पर यह साथ तभी सम्भव है, जब शास्त्र-श्रवण और मनन करते हुए मङ्गलमय परमानन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र का

अनुसन्धान दत्तचित्त होकर किया जाय तो निदिध्यासन से दृढ़ता होती है और तर्क-वितर्क से विचलित नहीं होती। पहले जैसा कि कहा गया है, गुरुवाक्यों का श्रवण करके बाद में तर्कों से विवेचन करना चाहिए, फिर उपपत्तियों से मनन करना चाहिए। ऐसा करने पर भगवान् की ओर पर्याप्त आस्था होगी। सर्वप्रथम यदि श्रवण दृढ़ न हुआ, तो यह सब कुछ न बनेगा, अतः उसका दृढ़ होना आवश्यक है। श्रवण दृढ़ होने से ही इन्द्र ने शुद्ध, बुद्ध, चैतन्यानन्दघन को प्राप्त कर लिया और विरोचन उससे वञ्चित रह गया। श्रवण की पुष्टि होने पर मननद्वारा इन्द्र की असाधारण रूप से दृढ़ स्थिति हुई और विरोचन जहां का तहां रह गया। वेदान्तों का भी तात्पर्य यही है कि मनन और निदिध्यासन द्वारा मेधावी पुरुष ब्रह्म में स्थित हो सकते हैं। मेधा से बुद्धिमत्ता, बुद्धिमत्ता से तर्ककुशलता होती है। फिर यह सुनिश्चित है कि मन का पूर्णतया झुकाव सारातिसार तत्त्व परब्रह्म की ओर हो।

दूसरे मार्ग का समाश्रयण करने से लक्ष्य बदल जाता है। मनुष्य की द्रव्योपार्जन, शिष्यसम्पादन, मान इत्यादि की ओर प्रवृत्ति होने लगती है, जिसकी कोई आवश्यकता नहीं है। यहां तो वैराग्य चाहिए। बिना वैराग्य के फटी-पुरानी गुदड़ी भी नहीं छूटती। पर वह वैराग्य सदा बना नहीं रहता। यदि वैराग्य सदा बना रहे, तो

'को न मुच्येत बन्धनात्।'

बीच में मायारूप विघ्न बाधक बनकर मान, प्रतिष्ठा, शिष्यसम्पादन आदि प्रलोभन में परमसयानी बुद्धिवालों को भी फँसा लेते हैं, फिर क्षुद्र प्राणियों का तो कहना ही क्या ? परब्रह्म प्राप्ति में लगने पर विघ्नबाधाएँ

तो उपस्थित होंगी ही। ये ही परीक्षाएँ हैं, जिनसे उत्तीर्ण होना चाहिए। शिव के प्राप्त्यर्थ पार्वती ने जो तपस्या की, उसमें वह कैसी दृढ़ रहीं? भगवद्भक्त विरक्त को भोगों और लोगों से क्या काम?

'भोग तज्यो जिमि रोग, लोग जिमि अहिगण'

भगवद्भक्तों को भी इसी का पदानुसरण करना पड़ेगा, तभी तपस्या की पूर्ति सम्भव हो सकेगी। सांसारिक विषय उस मनोरम सुन्दर सर्पिणी की भाँति हैं, जिसका स्पर्श सुखद है, जिस पर बढ़िया चित्रकारी है, जिसे प्रतिक्षण देखते ही रहने की इच्छा हुआ करती है, पर बुद्धिमान् लोग परिणाम को सोचकर जिसके काटखाने के भय से उसकी ओर दृष्टि नहीं डालते। तत्क्षण के सुख पर वे विश्वास नहीं करते, पर मूर्ख नाना प्रकार के प्रलोभन में पड़कर कामिनी के पीछे कालसर्प से असमय में ही डँस लिये जाते हैं। इससे वे ही बच पाते हैं, जो आचार्यों द्वारा निर्धारित रास्ते से चलते हैं। वन में अनेक चोर-डाकुओं का भय है। वे वहाँ सुन्दर रास्ते अपने ही घर की ओर बनाकर प्रलोभन देकर पथिकों को लिवा लाते और ठगते हैं। वैसे ही माया परिवार अद्भुत नकली रास्ते बनाकर साधक को भ्रम में डालने का प्रबल प्रयत्न किया करता है। जो मायारूप चोर-डाकुओं के फन्दे में नहीं पड़ते, वे संसार के आवागमन के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं और जो रास्ते के उत्तम फल के अशन और सौगन्ध्य की उपलब्धि में पड़ जाते हैं, वे अपने पास के सञ्चित द्रव्य से भी हाथ धो बैठते हैं। विषमय फलवाले वृक्ष की ओर निहारने से तो सर्वस्वनाश होगा ही। साधक को अपनी साधना में विश्राम लेने की आवश्यकता नहीं है। उसे यह इच्छा कदापि न होनी चाहिए कि हमें

संसार जानें। ऐसी इच्छा करनेवाले को संसार तो नहीं जानता, ब्रह्मपद भी उसे स्वप्न में भी प्राप्त नहीं होता। जो निरभिमान होकर स्थिर चित्त से भगवद्भजन में लीन रहता है, उसकी साधना सफल होती है। सिद्धि की सफलता होते देखकर इस आशा में भी न पड़ना चाहिए, कि हम अब तो परब्रह्म के सन्निकट आ गये, थोड़ा विश्राम कर लें तो चलें। जबतक अपने निश्चित आनन्दपद सुसौख्यसम्पन्न महल में न पहुंच जांय, तबतक ऐसी धारणा करके सांसारिक मौज में लिप्त न होना चाहिए, नहीं तो चोर-डाकू लगकर उसे फिर वहीं पहुंचा देंगे, जहां से वह चला था। ऊँचे से ऊँचे साधक महल के निकट पहुँचकर भी सुस्ताने में भटक चुके हैं। इसलिए बहुत ही सावधान रहने की आवश्यकता है। सर्वतोभावेन भगवत्प्रपन्न की चेष्टा जब उत्पन्न होगी और विश्राम की आवश्यकता मालूम न पड़ेगी, तभी उसे उस दिव्य धाम की सुखद छाया में विश्राम और शान्तिग्रहण का अवसर प्राप्त होगा।

परन्तु संसार के ममतारत और लोभी प्राणियों के लिए ज्ञानोपदेश करना ऊसर में बोये हुए बीज के समान व्यर्थ है। ऐसे लोगों को गुरु कुछ भी उपदेश नहीं कर सकते। जब अपना ही अन्तःकरण पवित्र नहीं अपने से सावधानी करते नहीं बनती, तब गुरु के पास ही जाकर वह क्या करेगा? उनका कुछ सदुपदेश करना और समय देना व्यर्थ ही जायगा। इसलिए भगवान् शंकराचार्यजी कर्मानुष्ठान में आग्रह करते हैं। कर्मयोग से परमेश्वराराधन और परमेश्वराराधन से अन्तःकरण की शुद्धि होती है। अन्तःकरण की शुद्धि होने पर लोभ और मोह से छूटकर मनुष्य को इष्टसिद्धि में सहायता

मिलती है नहीं तो कुपररूप लोभ-मोहप्रभुत्त जीव में बीजरूप ज्ञान का पौधा उगने का प्रयत्न निष्फल होकर ही रहेगा।

धर्मानुष्ठान द्वारा रज और तम के अभाव से साक्षात्कार बनता है। धर्मनिष्ठता एवं साधनचतुष्टय से सम्पन्न होने पर ब्रह्मजिज्ञासा की उत्पत्ति होती है। अनभिज्ञ जीव उत्सुकतावश जो अनधिकार चेष्टा करता है, उसमें उसे सफलता नहीं मिलती। घड़े के निर्माण के लिए जैसे मिट्टी, पानी आदि की आवश्यकता पड़ती है, वैसे ही भगवत्प्राप्ति के लिए, उस के आवश्यक साधन सर्वप्रथम एकत्रित करने पड़ेंगे। मधुसूदन सरस्वती ने कहा है कि अनधिकार चेष्टा से सांसारिक प्रपंचों में लिप्त होकर 'ब्रह्म ब्रह्म' चिल्लानेवाला जीव घोर नरक में गिरता है। भगवान् शंकराचार्य अद्वैतमतावलम्बी थे, उन्होंने अनधिकारियों को ठीक मार्ग का विचारकर चलने का उपदेश किया है। उनका तो कहना है कि

"अनुभूतेरभावेऽपि ब्रह्मास्मीत्येव चिन्त्यताम्।
अप्यसत् प्राप्यते ध्यानात् नित्यो ऽहं किं पुनः स्वयम्।"

शुद्ध चित्त से 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा भी चिन्तन करनेवाला ब्रह्मत्व को प्राप्त होता है। भावना द्वारा जब असत् पदार्थ की भी प्राप्ति हो जाती है, तब ध्यान से सद्वस्तु ब्रह्म की प्राप्ति क्यों न होगी? जो तत्त्वदर्शी हैं, विचारवान् हैं, उनके संकल्प से घट पट हो जाता है। वे जो कहेंगे, सत्य होगा। योगी द्वारा नहुष को अजगर-योनि मिली। जैसा उसने कहा, नहुष वैसा ही हो गया। वह स्वभाव से अजगर नहीं था, पर महर्षि के संकल्प से उसे वैसा होना पड़ा। इसके लिए दीर्घकाल तक निरन्तर

तपस्या करने की आवश्यकता है। तब कहीं जाकर जो संकल्प किया जायगा, वह ठीक-ठीक वैसा ही उतरेगा।

कम से कम रागद्वेषशून्य और साधनचतुष्टयसम्पन्न होकर शुद्ध रूप से जब उस परब्रह्म का अनुसन्धान किया जाय, तब वे मिलते हैं, धर्मानुष्ठान भी यदि न किया जाय और अन्तःकरण भी शुद्ध न किया जाय, तो ब्रह्मचिन्तन भी अनर्थंकर होता है। रागद्वेषरूपी मल को हृदयरूप दर्पण से हटाकर स्वरूप का दर्शन भली प्रकार होता है। आजकल संसार ब्रह्मसाक्षात्कार से बहुत दूर दिखायी देता है। इसका कारण यह है कि वह संसार के भोग-विलास को स्थायी और ब्रह्मसुख को अस्थायी समझता है। यह सोचकर वह सांसारिक वासनाओं में लिप्त है। संसार के क्षुद्र से क्षुद्र विषयों के लिए मन लालायित हो रहा है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध की वासना में मन लिप्त है। जब इनसे वैराग्य नहीं, तब ब्रह्मतत्त्व का ज्ञान कब और कैसे सम्भव हो सकता है? जब संसार के इतने छोटे छोटे सुखों में मन लगा है, तब फिर ऐन्द्र सुख, ब्राह्मसुख आदि की प्राप्ति होने पर तो जीव और भी लिप्त हो जायगा। जीव की परीक्षा के लिए जब ये सुख सामने रखे जायँगे, तब भला वह इसमें कैसे उत्तीर्ण हो सकेगा? एक साधारण स्त्री को देखकर उसमें मन जब आसक्त हो जाता है, तब रम्भा, शची, उर्वशी जैसी सुरकामिनियों को देखकर क्या वह घृणा करेगा? ब्रह्म सुखप्राप्ति के लिए तो इन सब से वैसे ही घृणा करनी पड़ती है, जैसे मल को देखकर स्वभावतः घृणा उत्पन्न होती है। कल्पवृक्ष, विमान को देखकर जीव का मन यदि फिर जाय, तो चिरशान्ति प्राप्त हो, चञ्चलता नष्ट हो और निर्विकल्प समाधि हो।

परन्तु साठ साठ वर्ष एकान्त में तप करनेवाले कितने ही योगी-मुनियों को ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं होता। मन को जब विक्षेपरहित किया जाय, दान्ति, इन्द्रियनिग्रह किया जाय, त्वचा पर कुंकुम-लेप हो या बसूला चले, इसकी परवाह न हो, सुख-दुःख में साम्य रहे, उपरति हो, सब दुःख सहन हों, तब जाकर कहीं मुमुक्षत्व प्राप्त होता है साधन-चतुष्टय के बिना ब्रह्मज्ञान असम्भव है।

भगवान् शंकराचार्यजी ने कहा है कि भगवान् तो केवल प्रणव के उच्चारण से प्राप्त होते हैं, पर अनधिकारी को इसका उच्चारण नहीं करना चाहिए। सामान्य श्रेणीवालों के लिए उनका कहना है कि

"गेयं गीतानामसहस्रं ध्येयं श्रीपतिरूपमजस्रम् ।
नेयं सज्जनसङ्गे चित्तं देयं दीनजनाय च वित्तम् ॥"

वेदान्त का उपदेश-श्रवण, गीता-विष्णुसहस्रनाम का पाठ, सज्जनों की संगति और ग़रीब की सेवा करनी चाहिए। शुद्ध मन से ऐसा करने पर वह भगवत्कृपाप्राप्ति का अधिकारी हो सकता है। अपने मन से शास्त्र देखे, वेद पढ़े, जो मन में आया वही करे और माने, यह ठीक नहीं है। औषधालय में सभी प्रकार की दवाएं रहती हैं, विषैली एवं अमृतमय भी। रोगी का रोग देखकर वैद्य जैसी दवा देगा, उसी से रोगी का दुःख दूर होगा। यदि मूर्ख जाकर उसमें से स्वयं निकाले, तो विष खाकर मर जाय। वैसे ही शास्त्र और वेदों की बात भी है। सद्गुरु द्वारा अपना अधिकार समझकर उन से रोग का निदान करवाना चाहिए। शास्त्रों से मनमाना अर्थ निकालना ठीक नहीं है। तत्त्वज्ञ गुरु के पास जाकर उसे रोग बतलाना चाहिए, वह विचारकर जब औषध देगा, तभी इस भव-रोग से मुक्ति मिलेगी।

नास्तिक भी आस्तिक

जो भगवान् भक्तों के सर्वस्व एवं ज्ञानियों के एकमात्र परमतत्त्व हैं, वही नास्तिकों से नास्तिकों के भी सब कुछ हैं। यह बात असम्भव-सी प्रतीत होती है, परन्तु विवेचन करने से अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है। चाहे कैसा भी नास्तिक क्यों न हो, वह अपने अभाव से घबराता है, वह यही चाहता है कि मैं सदा बना रहूँ। साधारण से साधारण प्राणी भी आत्मरक्षा के लिए व्यग्र रहता है। कोई भी अपने अस्तित्व को मिटाना नहीं चाहता। इस तरह नास्तिक भी अपने अस्तित्व का गुणानुरागी है। अपने आप कौन है, जिसका अस्तित्व वह चाहता है, इसे वह न जानता हो, यह बात दूसरी है। यदि सौभाग्यवश कभी इस ओर भी उसकी दृष्टि फिर गयी, तब तो वह समझ लेगा कि विनश्वर देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार ये सभी दृश्य तथा मेरे हैं और मैं इनसे पृथक् तथा इनका द्रष्टा हूँ और मैं उसी निर्विकार, दृक्स्वरूप स्वात्मा का ही सदा अस्तित्व चाहता हूँ। विवेचन करने से यह भी विदित होता है कि स्वप्रकाश दृक् का अस्तित्व 'तत्'स्वरूप ही है। इसीलिए आत्मा स्वप्रकाश कहा जाता है। जगत् की अनेकानेक वस्तुओं में चाहे जितना भी सन्देह हो, परन्तु 'मैं हूँ या नहीं' ऐसा आत्मविषयक सन्देह किसी को भी नहीं होता। जगत्, परमेश्वर, धर्म, कर्म सभी का अभाव सिद्ध करनेवाले शून्यवादी को भी अनिच्छया स्वात्मा का अस्तित्व मानना ही पड़ता है, क्योंकि जो सब के अभाव का सिद्ध

करनेवाला है, यदि वह रह गया, तब तो स्वातिरिक्त ही सब का अभाव सिद्ध होगा अपना अभाव नहीं सिद्ध हो सकता। सर्व निराकर्ता, सर्व-निषेध की अवधि एवं साक्षीभूत के अस्वीकार करने पर शून्य भी अप्रामाणिक होगा। अतः वही अत्यन्त अबाधित, सर्वबाध का अधिष्ठान एवं साक्षीभूत अस्तित्व या सत्ता ही भगवान् का 'सत्' रूप है।

साथ ही, बोध और प्रकाश के लिए प्राणिमात्र में उत्सुकता दिखाई देती है। पशु-पक्षी भी स्पर्श से, आघ्राण से, किसी तरह ज्ञान के प्रेमी हैं। यह ज्ञान की वाञ्छा उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है। हमें अब अमुक वस्तु का ज्ञान हो, अब अमुक का हो, इतिहास, भूगोल, खगोल, भूत तत्त्व एवं अधिभूत, अध्यात्म, आधिदैव सभी तत्त्वों को जानने की इच्छा होती है। किं बहुना बिना सर्वज्ञता के ज्ञान में सन्तोष नहीं होता। पूर्ण सर्वज्ञता कहाँ हो सकती है, यह विवेचन करने से स्पष्ट हो जाता है कि सब पदार्थ जिस स्वप्रकाश, अखण्ड, विशुद्ध ज्ञान (बोध) में कल्पित हैं, वही सर्वावभासक एवं सर्वज्ञ हो सकता है, क्योंकि प्रकाश्य या भान अत्यन्त असत् एवं निस्स्वरूप और अज्ञ ही हैं। उसको दृश्य के साथ सिवा आध्यासिक सम्बन्ध के और संयोग, समवाय आदि सम्बन्ध बन ही नहीं सकता। अतः यदि सर्वज्ञ होने की वाञ्छा है, तो सर्वविभासक, सर्वाधिष्ठान, विशुद्ध, अखण्ड बोध होने की वाञ्छा है। यह अखण्ड बोध ही भगवान् का 'चित्' रूप है। जैसे पूर्वोक्त अखण्ड, अनन्त, स्वप्रकाश सत्ता या अस्तित्व ही अपना तथा सत्ता का निजरूप है, वैसे ही यह अनन्त, अखण्ड बोध भी सबका अन्तरात्मा है।

संसार में पशु, कीट, पतङ्ग कोई भी ऐसा नहीं है, जो आनन्द के लिए व्यग्र न रहता हो। प्राणिमात्र के देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहङ्कार आदि की जितनी भी चेष्टाएं एवं हलचल हैं, वे सभी आनन्द के लिए हैं। बिना किसी प्रयोजन के किसी की भी प्रवृत्ति नहीं होती। एक उन्मत्त भी, चाहे भ्रम या अज्ञान से ही सही, आनन्द के लिए ही समस्त चेष्टाएं करता है। समस्त वस्तुओं में भ्रान्त होता हुआ भी प्राणी जिसके लिए नाना चेष्टाएं करता है, उसके विषय में उसे सन्देह या भ्रम अथवा अज्ञान हो, यह कैसे कहा जा सकता है? इस तरह जिसके लिए समस्त चेष्टाएं हो रही हैं, वह आनन्द बहुत प्रसिद्ध है। संसार की समस्त वस्तुओं में प्रेम जिसके लिए हो और जो स्वयं निरतिशय एवं निरुपाधिक प्रेम का आस्पद हो अर्थात् जो अन्य के लिए प्रिय न हो, वही 'आनन्द' होता है। देखते ही हैं कि समस्त आनन्द के साधनों में प्रेम अस्थिर होता है। स्त्री, पुत्र आदि में प्रेम तभीतक है, जबतक वे अनुकूल हैं, प्रतिकूल होते ही उनसे द्वेष हो जाता है। परन्तु, सुख और आनन्द सदा ही प्रिय रहता है। कभी भी, किसी को भी आनन्द से द्वेष हो, यह नहीं कहा जा सकता। इस तरह सभी आनन्द को चाहते हैं और उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील तथा लोलायित रहते हैं।

परन्तु उसे पहचानने की कमी है, क्योंकि जिस आनन्द और सुख के लिए नास्तिक व्यग्र है, उसे पहचानता नहीं। वह तो सुखसाधन स्त्री-पुत्र, शब्द-स्पर्श आदि सम्भोग में ही सुख की भ्रान्ति में फँसकर उसमें ही सन्तुष्ट हो जाता है। परन्तु विवेचन से विदित हो जाता है कि जिनमें कभी प्रेम, कभी द्वेष होता है, वह सुख नहीं, किन्तु सदा ही जिसमें

निरतिशय एवं निरुपाधिक प्रेम होता है, वही सुख है। जगत् के सम्भोग-साधन पदार्थ ऐसे हैं नहीं, अतः वे सुखरूप नहीं हैं, किन्तु अभिलषित पदार्थ की प्राप्ति में तृष्णाप्रशमन के अनन्तर जिस शान्त, अन्तर्मुख मन पर सुख का आभास पड़ता है, उस आभास या प्रतिबिम्ब का निदान या बिम्बभूत जो अन्तरात्मा है, वही 'आनन्द' है। जो लक्षण आनन्द का है, वही अन्तरात्मा का भी है। जैसे सब कुछ आनन्द के लिए प्रिय है, आनन्द और किसी के लिए प्रिय नहीं, ठीक वैसे ही समस्त वस्तु आत्मा के लिए प्रिय होती हैं, आत्मा किसी दूसरे के लिए नहीं होती। अतः अन्तरात्मा ही आनन्द है और वही निरतिशय, निरुपाधिक परमप्रेम का आस्पद है। उसी का आभास अन्तर्मुख अन्तःकरण पर पड़ने से 'मैं सुखी हूँ' ऐसा अनुभव होता है। इसी के लिए समस्त कार्य्य-करण-संघात की प्रवृत्ति होती है। यह सुख-दुःख-मोहात्मक, नानात्मक सङ्घात से विलक्षण सुख-दुःख-मोहातीत, असंहत, असङ्ग, अद्वितीय तत्त्व ही भगवान का 'आनन्द' रूप है। इस तरह सभी सच्चिदानन्द भगवान् के उपासक हैं।

प्राणिमात्र स्वतन्त्रता चाहते हैं। एक चींटी भी पकड़े जाने पर व्याकुलता से हाथ-पैर चलाती है। शुक, सारिका आदि पक्षी सोने के पिंजड़े में रहकर सुन्दर, मधुर भोजन की अपेक्षा बन्धन-मुक्त होकर स्वतन्त्रता से वन में खट्टे फलों को भी खाकर जीवन व्यतीत करने ही में सच्चे आनन्द का अनुभव करते हैं। इस तरह प्राणिमात्र बन्धन से छूटने तथा स्वतन्त्रता के लिए लालायित है। ऐसी स्थिति में कौन नास्तिक बन्धनमुक्ति और स्वतन्त्रता न चाहेगा? परन्तु स्वतन्त्रता का

वास्तविक रूप विवेचन करने से स्पष्ट होगा कि यह भी भगवान का ही स्वरूप है। बिना असङ्ग सच्चिदानन्द भगवान् को प्राप्त किये बन्धन मुक्ति और स्वतन्त्रताकी कल्पना अत्यन्त ही निराधार है। जबतक स्थूल, सूक्ष्म तथा कारणदेह का सम्बन्ध बना है तबतक स्वतन्त्रता कैसी? भले ही कोई माता-पिता, गुरुजनों तथा वेद-शास्त्र की आज्ञाओं को न माने और उनसे अपने को स्वतन्त्र मान ले, परन्तु जन्म, जरा, व्याधि, दरिद्रता विपत्ति, मृत्यु आदि के परतन्त्र तो प्राणिमात्र को होना ही पड़ता है, क्योंकि जबतक कुछ स्वतन्त्रता त्यागकर शास्त्रों एवं गुरुजनों के परतन्त्र होकर कर्म, उपासना तथा ज्ञान द्वारा मल, विक्षेप आवरण को दूर करके शरीरत्रय-बन्धन से मुक्त होकर निजी निर्विकार स्वरूप को न प्राप्त कर ले, तबतक पूर्ण स्वातन्त्र्य मिल सकता ही नहीं। इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि 'स्वतन्त्रता' भी सर्वोपाधिनिर्मुक्त, असङ्ग, अनन्त, स्वप्रकाश, प्रत्यगभिन्न भगवान् का ही स्वरूप है।

इसी तरह प्राणिमात्र को यह भी रुचि होती है कि सब कुछ हमारे अधीन हो और मैं स्वाधीन रहूँ। यहाँ तक कि माता-पिता, गुरुजनों के प्रति भी यही रुचि होती है कि ये सब हमारी प्रार्थना मान लिया करें और सब तरह से मेरे अनुकूल रहें। यही स्थिति देवताओं के प्रति भी होती है। ये सभी भाव भी जीवभाव के रहते नहीं हो सकते। समस्त कल्पित पदार्थ कल्पना के अधिष्ठानभूत भगवान् के ही परतन्त्र हो सकते हैं। इस तरह परमार्थतः पूर्ण अस्तित्व, पूर्ण बोध, पूर्ण आनन्द, पूर्ण स्वातन्त्र्य एवं पूर्ण नियामकत्व, ये सब भगवान् में ही होते हैं। सब आस्तिक, नास्तिक सभी पूर्ण स्वातन्त्र्य, पूर्ण नियामकत्व, पूर्ण बोध,

पूर्णानन्द, पूर्ण अबाध्यता या सत्ता के लिए व्यग्र है तथा इनकी प्राप्ति के लिए जीजान से प्रयत्न करते हैं, तब कौन कह सकता है कि अज्ञानी किंवा नास्तिक जिसकी प्राप्ति के लिए व्यग्र है, यह वही भक्तों और ज्ञानियों के ध्येय, ज्ञेय, परमाराध्य परब्रह्म भगवान् नहीं हैं, क्योंकि प्राणिमात्र किंवा तत्त्वमात्र का अन्तरात्मा भगवान् ही है ? फिर उनसे विमुख होकर निःसत्त्व, निःस्फूर्ति कौन होना चाहेगा ? इसी आशय से श्री वाल्मीकि की उक्ति है—

"लोके न हि स विद्येत यो न राममनुव्रतः।"

लोक में ऐसा कोई हुआ ही नहीं, जो राम का अनुगामी न हो। निज सर्वस्व के बिना किसी को भी कैसी विश्रान्ति ? अतएव तरङ्ग की जैसे समुद्रानुगामिता है, ठीक वैसे ही प्राणिमात्र की भगवदनुगामिता है। भेद यही है कि ज्ञानी अपने प्रियतम को जानकर प्रेम करता है, दूसरे उसी के लिए व्यग्र होते हुए भी उसे जानते ही नहीं।

अध्यात्मवाद और अकर्मण्यता

प्रायः कहा जाता है कि 'अध्यात्मवाद' विशेषकर वेदान्त ने समस्त संसार को मिथ्या तथा निःसार बतलाकर यहाँ के लोगों को अकर्मण्य बना दिया है। इस मत में वैयक्तिक या राष्ट्रिय अभ्युदय के लिए प्रयत्न का सम्मान क्या ?' परन्तु ऐसा समझनेवालों की यह धारणा नितान्त भ्रमात्मक है, क्योंकि जब निःसार भोजन-पानादि में तत्परता से नियमित प्रवृत्ति सम्भव है, तब वैयक्तिक या राष्ट्रिय अभ्युदय में प्रवृत्ति क्यों असम्भव होगी ? वेदान्त में मर्त्य, अनृत, क्षणभङ्गुर शरीर से अमृत, सत्य, परमतत्त्व की प्राप्ति को ही बुद्धि का वैभव कहा गया है—

"एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्।
यत्सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति माऽमृतम्॥"

यही बुद्धिमानों की बुद्धिमानी और यही मनीषियों की मनीषा है, जिसके द्वारा मर्त्य और अनृत से अमृत तथा सत्य तत्व प्राप्त कर लिया जाय। जिससे अमृतत्व की प्राप्ति होती हो, वह चाहे मर्त्य एवं निःसार ही क्यों न हो उसके संरक्षण एवं सुधार का प्रयत्न होना स्वाभाविक ही है। रेशम के कीड़े अपावन होते हुए भी किस तरह प्रिय एवं रक्षित होते हैं—

"पाट कीट तें होंहि, तातें पाटम्बर रुचिर।
कृमि पालहिं सब कोई, परम अपावन प्राणसम॥
पन्नगारि! यह नीति, श्रुतिसम्मत सज्जन कहहिं।
अति नीचहु सन प्रीति, करिय जानि निज परमहित॥"

निःसार, मर्त्य या मिथ्या प्रपञ्च में भी राजस, तामस, सात्विक तीन भेद हैं। राजस, तामस प्रपञ्च प्राणियों के अधिकाधिक पतन या अवनति का और सात्त्विक प्रपञ्च निष्प्रपञ्च परमानन्द परब्रह्म की प्राप्ति का मूल है। जैसे कण्टक निकालने के लिए भी कण्टक की अपेक्षा और आदर अनिवार्य्य है, वैसे ही सर्वानर्थमूल राजस-तामस प्रपञ्च-निवृत्ति के लिए भी सात्विक प्रपञ्च की अपेक्षा तथा आदर अनिवार्य्य है। नियन्त्रित देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से ही मायामय प्रपञ्च की निवृति होती है। शान्त, सात्विक देश या समाज और सात्विक वातावरण में ही निष्प्रपञ्च परब्रह्म प्राप्ति के अनकूल सत्प्रयत्न सफल होते हैं। यदि अशान्त, उपद्रुत देश और समाज तथा उल्वण वातावरण में ही सदा रहना पड़े, तो परमात्मतत्त्व की रुचि और उस ओर प्रवृत्ति तक असम्भव हो जाती है' अतः दुःखमय मिथ्या प्रपञ्च मिटाने के लिए भी आधिभौतिक और अध्यामिक प्रपञ्च का शुद्ध करने की नितान्त आवश्यकता है। मिथ्या प्रपञ्च की भी निवृत्ति बिना स्वकर्मानुष्ठान, पापक्षय, सत्समागम, भगवद्भजनादि के नहीं हो सकती—

> "अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते।
> ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा॥"

इसके अतिरिक्त यह भी समझना चाहिए कि जन्म, जरा, मरणादि-परम्परा, संसार की दुःखरूपता किंवा उद्वेगजनकता सर्वानुभवसिद्ध है। उसकी निवृत्ति के अनुकूल साधन-सम्पादन परमावश्यक है। निष्प्रपञ्च परब्रह्मप्राप्ति के लिए धर्म, अर्थ, काम सभी की अपेक्षा होती है। अर्थ-काम-परायण तथा निर्वाणमय भगवत्परायण में इतना ही भेद है कि

पहला व्यक्ति तो धर्म का फल अर्थ तथा अर्थ का फल काम मानता है और दूसरा व्यक्ति अर्थ का मुख्य फल धर्म तथा गौण काम या भोग को मानता है। धर्म का मुख्य फल मोक्ष है और अर्थ गौण। काम का भी मुख्य फल है प्राण-धारण और गौण फल इन्द्रिय तर्पण। कोई भी प्राणी बिना भोजनादि के प्राण-धारण नहीं कर सकता और बिना प्राणधारण के श्रवणादि भी कैसे हो सकता है? अर्थ-कामपरायण पुरुष काम की सुविधा के लिए धर्म, कर्म, परलोक आदि की कुछ भी परवाह नहीं करता, परन्तु तत्त्वज्ञ पूर्णरूप से अर्थ, काम का सम्पादन करता हुआ भी इस पर ध्यान रखता है कि अर्थ काम सम्पादन के लिए ऐसे मार्ग का अवलम्बन न किया जाय, जिससे आमुष्मिक अभ्युदय बाधित हो जाय और नीच योनियों में अनेकों जन्म लेने पड़े। तात्कालिक तुष्टि-पुष्टि के लिए विषमिश्रित मधुरान्न सेवन कर प्राण त्याग क्या उचित है? जैसे काम में आसक्त होकर अर्थ का विलोप कर देने से भोग भी असम्भव हो जायगा, वैसे ही अर्थ में आसक्त होकर धर्म मोक्षविलोप करना भी ठीक नहीं। संन्यासी के लिए भी शास्त्रों ने आहार के लिए चेष्टा करने को कहा है—

"आहारार्थं समीहते युक्तं तत्प्राणधारणम्।"

इस रीति से निःसार संसार की निवृत्ति के लिए भी धर्म, अर्थ, काम तीनों की अपेक्षा होती है।

अतः अध्यात्मशास्त्र सेवी के लिए भी यह सब अनिवार्य ही है। आर्थिक, नैतिक पतन एवं राष्ट्रिय और वैयक्तिक पतन-काल में निर्विघ्न पुरुषार्थ का अनुष्ठान असम्भव होता है। अतः जैसे स्वार्थ के अक्षुण्ण

रखनेके लिए भी परार्थसाधन की आवश्यकता होती है, वैसे ही अपने परमपुरुषार्थ की सिद्धि के लिए भी राष्ट्र-हित की अपेक्षा होती है। फिर आध्यात्मिक-रहस्यज्ञ की दृष्टि में तो देश और समाज की सेवा धर्मोत्पादन द्वारा अन्तःकरण शुद्धि में उपयुक्त होती है। एक दूसरी दृष्टि से देखें, तब तो विदित होगा कि आध्यात्मिक रहस्यज्ञ देश या समाज को जड़ समझकर उसकी सेवा में करुणा से प्रवृत्त नहीं होता, किन्तु विश्व को अपने ध्येय, ज्ञेय, परमाराध्य पूर्णतम पुरुषोत्तम का स्थूल स्वरूप समझकर भगवदाराधन-बुद्धि से ही उसका सेवन करता है।

वेदान्तों ने भगवान् के चार प्रधान रूप बतलाये हैं – समष्टि स्थूल प्रपञ्च उनका स्थूल रूप, महदादि समष्टि सूक्ष्म प्रपञ्च उनका सूक्ष्म स्वरूप समष्टि कारणप्रपञ्च कारण स्वरूप और कार्य्य, कारण, जागर, स्वप्न, सुषुप्ति आदि समस्त प्रपञ्चों से अतीत, सर्वाधिष्ठान, अखण्डबोध पारमार्थिक स्वरूप। इसी अन्तिम स्वरूप की प्राप्ति के लिए पहले उन तीनों रूपों की उपासना करनी पड़ती है। सप्रपञ्च स्वरूप के उपासना से ही निष्प्रपञ्च तत्त्व की प्राप्ति होती है। इसी आशय से महानुभावों ने कहा है...

",सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः"

अथवा

"सियाराममय सब जग जानी, करहु प्रणाम जोरि युग पानी।

इतना ही नहीं, समष्टि जगत् को परप्रेमास्पद आत्मस्वरूप समझना पड़ता है। इसके लिए क्रमेण ममता को विकसित करना पड़ता है जब विश्व में पूर्ण आत्मीयता सम्पन्न हो जाती है, तभी उसमें आत्मबुद्धि

उत्पन्न होती है। फिर तो जैसा सर्वातिशायी प्रेम आत्मा में वैसा ही विश्व में होता है। फिर तो विश्वकल्याण साधक का निजी कल्याण हो जाता है, क्योंकि उसने अपनी व्यष्टि परिच्छिन्न सत्ता में मिला दी है। अतएव विश्व के हित और अहित से पृथक उसका कोई भी हित और अहित नहीं रह जाता। उस दशा में देश, काल, जाति तथा सम्प्रदायों के नानाविध सङ्कोच अस्तङ्गत हो जाते हैं। फिर तो वह किसी एक देश जाति या सम्प्रदाय में आवद्ध नहीं रह सकता, वह तो सब का हो जाता है और सब उसके हो जाते हैं। किं बहुना, वह सर्वरूप हो जाता है। वह एशिया, यूरोप या मर्त्यलोक, मुसलमान या हिन्दू, देवता या दानव को ही आत्मा या आत्मीय नहीं समझता, अपितु सारा विश्व, नहीं, समस्त अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड उसका आत्मीय किं वा आत्मा हो जाता है। इसी स्थिति का वर्णन वेदान्त करते हैं—

"वासुदेवः सर्वमिति", "सकलमिदमहञ्च वासुदेवः",
"आत्मैवेदं सर्वम्।"

अर्थात् यह सब कुछ वासुदेव ही हैं, यह सब कुछ आत्मा ही है।

वेदान्तों का तो यहां तक कहना है कि संसार में ब्रह्म, क्षत्र, लोक, वेद, किं बहुना नगण्य से नगण्य, जिस किसी भी तत्त्व को भगवान् से पृथक् देखा जायगा, वही अपना अपमान समझकर अपध्यान द्वारा भिन्न दर्शी की परमपुरुषार्थ-प्राप्ति में बाधक हो जायगा। भगवान् ही सर्वरूप में सर्वत्र प्रतिष्ठित हैं। अनेक रूप में छिपे हुए भगवान् को पहचानकर सर्वत्र ही उनका सम्मान करना बुद्धिमानी है। दीन, हीन दुःखियों का अपमान उन उन रूपों में छिपे हुए भगवान् का ही अपमान है। जिसे

आत्मा या आत्मीय समझा जाता है, वह बहुत ही प्रसन्न होता है। 'अपना' क्षेत्र, वित्त, कलत्र, पुत्र, माता, पिता, 'अपने' भगवान् —इस 'अपनेपन' में क्या ही अद्भुत रस है। 'अपनापन' नीरस को सरस बना देता है। फिर जिस 'आत्मा' के सम्बन्ध से 'अपनापन' होता है, उसे 'आत्मा' के रस की तुलना ही और कहां की जा सकती है? वेदान्त निखिल विश्व को आत्मरूप बतलाकर सब में सरसता और प्रेमास्पदता की स्थापना कर देते हैं। जैसे आत्मसुख के लिए प्राणी का सर्व प्रकार का प्रयत्न सम्भव है, वैसे ही विश्व के सुख की चेष्टा भी सम्भव है। विश्वकल्याण के लिए एक सच्चा ज्ञानी न केवल यह सब कुछ मिथ्या है, आत्मा ही सत्य है' इस उपदेश को पर्याप्त मानता है और न केवल रोटी मिल जाने को ही पर्याप्त समझता है। यह तो आर्थिक तथा नैतिक अभ्युदय द्वारा विश्व के परमकल्याण सम्पादन के मार्ग को प्रशस्त कर देना ही अपना कर्त्तव्य समझता है। यथाशक्ति, यथासम्भव एक अध्यात्मतत्त्ववेत्ता यही चाहेगा कि प्रत्येक व्यक्ति की केवल तात्कालिक सापेक्ष ही उन्नति न हो, अपितु वह पूर्णतम पुरुषोत्तम परमपद पर प्रतिष्ठित हो जाय। परमतत्त्व से वञ्चित प्राणियों को देखकर अभिज्ञ के हृदय में नितान्त व्यथा होती है। स्वाभाविक काम कर्म ज्ञानरूप मृत्यु का वैदिक काम कर्म ज्ञान से व्यष्टि अभिमानरूप मृत्यु का समिष्ट के अभिमान से, प्रमादरूप मृत्युका सावधानता से अज्ञानरूप मृत्यु का ज्ञान से उल्लङ्घन करने पर मृत्युञ्जय परमपद भगवान् की प्राप्ति होती है। अभिज्ञों का मत है कि चाहे सैकड़ों साम्राज्य प्राप्त हो जांय, मृत्युतरण के सहस्रों उपाय क्यों न किये जांय, परन्तु मृत्युञ्जय भगवान् का परमपद साक्षात्कार किये

विना सर्व प्रकार के मृत्यु की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो सकती। प्रमादशून्य होकर विवेकी जबतक निखिल प्रपञ्च का स्वप्रकाश प्रत्यक्चैतन्याभिन्न ब्रह्मरूप में साक्षात्कार नहीं करता, तबतक वह पूर्ण कृतार्थता ही नहीं मानता।

कुछ लोग यह भी कहते हैं कि वेदान्तमत में समस्त ज्ञान और कर्म निःसार एवं उपेक्ष्य समझे जाते हैं। एक किसी अनिर्देश्य अलौकिक तत्त्व को ही सर्वस्व मानकर उसी में वेदान्तियों की तत्परता होती है। इन्हीं भावनाओं से लौकिक ज्ञान एवं कर्मों की उपेक्षा की गयी है। इसीलिए भारत में वैज्ञानिक कला कौशल एवं भौतिक चमत्कार न हो सके। परन्तु यह दोष वेदान्त का नहीं प्रमादियों का है। अच्छी से अच्छी वस्तु का दुरुपयोग किया जा सकता है। वास्तव में जो पूर्णतम पुरुषोत्तम परमानन्दमहासिन्धु को प्राप्त कर चुका उसे क्षुद्र सुख एवं तत्साधनों से निःस्पृहता होनी स्वाभाविक ही है। जिसे अमृतमय जलनिधि प्राप्त हो चुका वह वापी कूप तड़ागादि से निःस्पृह हो जाता है। परन्तु दिव्य जलनिधिप्राप्ति के पहले यदि वापी कूप तड़ागादि की उपेक्षा की गयी तब तो अवश्य ही क्षुधा पिपासा से मृत्युमुख में जाना पड़ेगा। ऐसी स्थिति की उपेक्षा अवश्य ही प्रमाद है। ऐसे ही निर्विघ्न निरतिशय परमतत्व की अप्राप्ति या प्राप्तिभ्रान्ति में ही जिन्होंने लौकिक कर्म और ज्ञानों की उपेक्षा की वे नितान्त अज्ञ एवं प्रमादी हैं। सम्यक् तत्त्व के प्राप्तिकाल में सर्व प्रपञ्च से निरपेक्षता सर्वमान्य है ही—

"यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥"

विवेचक यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखेंगे तो बड़े बड़े विद्वानों एवं विवेचकों में भी पुत्रैषणा वित्तैषणा नहीं तो लोकैषणा का अंकुर अवश्य ही पायेंगे फिर उनको छिपाकर या बलात् दबाकर कोई कैसे सर्वकर्म संन्यास का अधिकारी हो सकता है ? सत्य वस्तु छिप नहीं सकती, वह एक न एक दिन बहुत विकृत रूप धारणकर अभिव्यक्त हो उठती है। अतः या तो उचित शास्त्रीय उपायों से उन वासनाओं की पूर्ति की जाय अथवा स्वधर्मानुष्ठान एवं भगवदाराधन से अन्तःकरण को शुद्धकर के उनका समूल नाश किया जाय अन्यथा उनके छिपाने का कुछ भी फल नहीं। अज्ञानी या अविशुद्धसत्त्व कहे जाने के भय से अपने को अन्यथा व्यक्त करना या शास्त्रों का ही अर्थ अपने स्वरूप के अनुसार लगाना कथमपि बुद्धिमानी नहीं है। धारणा ध्यान समाधि आदि अन्तरङ्ग साधनों का अधिकार प्राप्त हो जाने पर ब्रह्म कर्मों का त्याग अकर्मण्यता नहीं कही जा सकती। मजदूर जिन कार्यों को करते हैं, उच्चकोटि का शिक्षित इञ्जीनियर उन कार्यों को नहीं करता फिर भी वह अकर्मण्य नहीं कहा जाता। अन्तरङ्ग उच्चकोटि के महाप्रयत्नों से कृतकृत्य होना प्राणि-मात्र का लक्ष्य है। कृतकृत्य वही हो सकता है जिसके लिए कुछ भी कर्त्तव्य अवशिष्ट न रहे। तभी अभियुक्तों ने कहा है—

"ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः।
नैवास्ति किञ्चित् कर्तव्यमस्ति चेन्नस तत्त्ववित् ॥"

ज्ञानामृत से तृप्त कृतकृत्य योगी को कुछ भी कर्तव्य बाकी नहीं रहता। अतएव—

"नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन"

इत्यादि वचनों से तत्त्वज्ञ की कृतकृत्यता कहकर भी लोकसंग्रहार्थ कर्म का प्रतिपादन किया है। इस तरह वेदान्तमत में अकर्मण्यता का कलंक कथमपि नहीं हो सकता।

कुछ लोगों का यह भी कहना है कि वेदान्तमत में कर्म तथा ज्ञान का तेज एवं तिमिर किंवा स्थिति तथा गति के समान विरोध है। जहां प्रकाश नहीं, वहीं जैसे अन्धकार रह सकता है, वैसे ही जहां ब्रह्मतत्त्व-विद्या नहीं, वहीं कर्म रह सकता है। अतः इस मत में तत्त्ववित् के द्वारा कर्म की आशा नहीं हो सकती, फिर तत्त्ववित् से समाज या राष्ट्रनिर्माण कैसे सम्भव है? इतना ही नहीं, तत्त्वविविदिषु के लिए भी वेदान्त सर्व-कर्म-संन्यास की ही सलाह देता है। ऐसा कहना भी उचित नहीं है। ज्ञान और कर्म का विरोध अवश्य है, पर "तत्त्ववित् से लोकप्रसिद्ध कर्म नहीं हो सकते" यह बात नहीं कही जा सकती। तात्पर्य यह है कि वेदान्तमत में लोकप्रतीतिसिद्ध यत्किञ्चित् हलचल को ही कर्म नहीं समझा जाता, अपितु कर्तृत्व-भोक्तृत्व-नानात्व-बुद्धिपूर्वक साहंकार एवं साभि-निवेश देहेन्द्रियादि की चेष्टाओं को ही 'कर्म' कहा जाता है। अकर्ता, अभोक्ता, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, असङ्ग, अनन्त, स्वप्रकाश, अद्वैत, सदानन्दात्मा का साक्षात्कार 'तत्त्वज्ञान' है। ऐसी स्थिति में स्पष्ट ही है कि उपर्युक्त रीति से तत्त्वज्ञान होने पर कर्तृत्व, नानात्व, अहंकार, अभि-निवेश आदि अज्ञानमूलक भावों का बाध हो जाता है। जैसे जपाकुसु-मादि के संसर्ग से स्फटिक में लौहित्य का आरोप होता है और स्फटिक की स्वच्छता का बोध हो जाने से ही उसमें लौहित्य बुद्धि बाधित हो जाती है, वैसे ही देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकारादि उपाधियों के संसर्ग

से ही उक्त उपाधियों के व्यापार (हलचलें) सर्वभासक भगवान् अन्तरात्मा में भासित होने लगते हैं। परन्तु वास्तव में समस्त अन्तःकरणादि उपाधियों तथा उनके विकारों का प्रकाशक चिदात्मा अत्यन्त निर्विकार एवं निर्व्यापार है। इस तरह आत्मा के वास्तविक निर्व्यापार स्वप्रकाश रूप का बोध होने पर उसमें अध्यारोपित व्यापारवत्ता मिट जाती है।

इस प्रकार लोकदृष्टि से कर्ता भोक्ता, सद्वितीय प्रतीत होता हुआ भी ज्ञानी वस्तुतः आत्मा को अकर्त्ता, अभोक्ता, असङ्ग, अद्वैत, अनन्तरूप ही देखता है। जैसे पित्त दोष से गुड़ के तिक्त प्रतीत होने पर भी उसे मधुर समझना और स्फटिक के लोहित प्रतीत होने पर भी वस्तुतः उसे स्वच्छ समझना भ्रान्ति या उन्माद नहीं कहा जा सकता, वैसे ही कर्ता, भोक्ता, अनन्त, व्यापारयुक्त, महाकर्मठसा प्रतीत होने पर भी आत्मा को अकर्ता, असङ्ग, अनन्त, कूटस्थ अद्वैत समझना भी भ्रान्ति या उन्माद नहीं कहा जा सकता। इसीलिए भगवान् ने ऐसी दशा में भी ऐसा समझनेवाले को 'युक्त' एवं तत्त्ववित्' कहा है।

"पश्यन् शृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन् अश्नन् गच्छन् स्वपन् श्वसन्।"
"नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।"

रहा यह कि वेदान्त-मत में ज्ञान और कर्मों के निःसार होने की बात सो भी ठीक नहीं, क्योंकि ज्ञान से हान तथा उपादानबुद्धि होती है। अधिक ज्ञानवान या सर्वज्ञ होने का अर्थ यही है कि अधिक से अधिक हेय और उपादेय तत्वों को जानकर हेयों का त्याग तथा उपादेयों का उपादान करें। दुःख तथा दुःखसाधन हेय और सुख तथा सुखसाधन उपादेय होता है। सर्व ज्ञान एवं कर्मों का एकमात्र यही प्रयोजन होता

है कि समस्त दुःख एवं दुःखसाधनों को मिटा दें और समस्त सुख एवं सुख साधनों को प्राप्त कर लें। परन्तु जब ऐसा अनन्त अखण्ड पूर्णतम परमानन्द पुरुषोत्तमपद प्राप्त हो चुका कि जिसमें कथञ्चित्किञ्चित् भी दुःख का स्पर्श नहीं और समस्त सुख जिसका आभासमात्र है तब फिर किसी भी ज्ञान और कर्म की आवश्यकता ही क्या ? आनन्द-महासिन्धु जिसे प्राप्त है, उसे आनन्दाभास-तुषार की क्या आवश्यकता ? चिकित्सा से होनेवाले स्वास्थ्य सुख के लिए रोग उत्पन्न करना या उसे बनाये रखना क्या बुद्धिमानी है ? इसी तरह क्या योग एवं भोगसामग्रियों से वासनापूर्तिजन्य सुख के लिए क्षुधा पिपासा-वासना को बनाये रखना भी बुद्धिमानी है ? परिश्रम के अनन्तर क्षणिक विश्रान्ति या क्षणिक सुख तो केवल मजदूरी हैं। रोज कमाते जाना रोज खाते जाना भी ठीक ही है, परन्तु यदि अन्य उपाय न हो। परिश्रम से क्षणिक सुख में विश्रान्ति उदात्त आदर्श नहीं है। बुद्धिमान लौकिक एवं शास्त्रीय महापरिश्रमों से एक ऐसी अखण्ड अनन्त विश्रान्ति प्राप्त करना चाहते हैं, जिसमें क्षुधा-तृष्णादि का सदा के लिए अन्त हो जाय और उनकी चिकित्सा के लिए विषय एवं वैषयिक सुखों की अपेक्षा ही न रह जाय। इस लोक तथा परलोक के जितने भी विषय एवं वैषयिक सुख हैं, उनकी सार्थकता अशनाया (क्षुधा कामना या तृष्णा) के होने में ही है, अशनाया आदि के अभाव में वे व्यर्थ हैं। काम न होने से कामिनी व्यर्थ, क्षुधा-पिपासा न होने में भोज्य तथा पेय पदार्थ व्यर्थ हैं।

बड़े-बड़े विचारकों में भी आन्तरिक प्रपंचवासना लक्षित होती है।

भोग-वासना जब शतधा प्रयत्न करने पर भी नहीं हटती तब उनकी पूर्ति का शास्त्राविरुद्ध लौकिक या शास्त्रीय उपाय न करना सिवा प्रमाद के और क्या कहा जा सकता है। साधारण श्वान भी जब बैठने के लिए भूमिशोधन करता है, तब जहाँ सौ पचास वर्ष रहना है, वहाँ का सुधार या अभ्युदय न सोचना कहाँ तक युक्त है? साधक आत्मकल्याण कामना से और ज्ञानी लोकसङ्ग्रहबुद्धि से लौकिक सुधार चाहता है। यावत्प्रारब्ध ज्ञानी को भी इसी संसार में रहना पड़ता है। यहाँ का वातावरण विकृत होने पर उसके ध्यान धारणा में भी बाधा पड़ेगी। देहयात्रा-निर्वाहार्थ उसे भी संसारियों से कथञ्चित् सम्बन्ध रखना ही पड़ता है। इसके सिवा जैसे अमानिता अदम्भिता ज्ञानी के स्वाभाविक धर्म है, वैसे ही लोकहितैषिता भी होनी स्वाभाविक ही है। यही कारण है कि वायुभक्ष वल्कल वसनधारी परमब्रह्मनिष्ठ ज्ञानी ऋषि मुनि अत्यन्त निरपेक्ष रह कर भी लोककल्याण की भावना से ओतप्रोत रहते थे।

परन्तु, कामनानिवृत्ति के पहले भोगसामग्रियों का अभाव एवं तत्साधन ज्ञान-कर्मों का अभाव तो अवश्य ही पतन है। अमृतसागर तक पहुँचने के लिए भी तो मध्य में वापी कूप की अपेक्षा है। इसी प्रकार अज्ञानाद्यादि दोषों से अतीत ब्रह्मप्राप्ति तक तो सभी साधन अपेक्षित ही हैं। साध्यसिद्धि के पश्चात सभी के मत से साधन व्यर्थ हैं। नदी पार करने के लिए तो नौका अपेक्षित ही है पहले से ही उसकी उपेक्षा सर्वथा भूल है। यह बात तो नैयायिक वैशेषिक तथा सांख्य योग-सत्तानुयायी—जो प्रपंच को सत्य मानते हैं—के मत में भी सम्मत ही है। मोक्षदशा में प्रपंच प्रतीति एवं व्यवहार का अभाव इन सभी का

मान्य है फिर प्रपञ्च चाहे सत्य हो या मिथ्या। अतः सभी के मत में जब तक मोक्ष न हो तभी तक प्रापञ्चिक उन्नति एवं सुधार के लिए प्रयत्न सम्भव है। मोक्ष के बाद सभी को उपरति होना है। जो व्यक्ति प्रपंच कुटुम्ब तथा अपने आपको ध्रुव सत्य मानकर रात दिन अभ्युदय के लिए प्रयत्नशील हैं, वह भी क्या प्रपंच को सत्य मान लेने मात्र से सदा यहाँ रह सकता है। वह माने चाहे जो कुछ अन्ततः सौ पचास साल के बाद इच्छा न रहते हुए भी उसे जन्मभर के काय और कार्य क्षेत्र को छोड़ना ही पड़ेगा। रही यह बुद्धि कि जब जीवन थोड़े ही दिन का है, तब थोड़े दिन के लिए वैयक्तिक एवं सामाजिक अभ्युत्थान के लिए कौन प्रयत्न करे? तो इस पर यही कहना है कि यदि जीवन का अस्थायी होना स्वाभाविक है, तो उसे छिपाने से क्या लाभ? सत्य वस्तु अवश्य ही एक दिन व्यक्त होगी। परन्तु इतने से कर्तव्यशीलता में त्रुटि नहीं हो सकती, क्योंकि जब थोड़े कालतक ही बैठने के लिए श्वान भी भूमिशोधन करता है, तब ज्ञानागार मनुष्य के विषय में तो कहना ही क्या? इसके सिवा इन्हीं क्षण-भङ्गुर साधनों से ही तो अनन्त आनन्दस्वरूप मोक्ष मिलेगा।

विश्व के मिथ्या होने का भी अर्थ कुछ और ही है। वेदान्त के अर्थ से अपरिचित होने के कारण ही लोगों में भ्रम फैला है। पारमार्थिक परम सत्य की अपेक्षा लौकिक व्यावहारिक सत्य पदार्थ मिथ्या कहा जाता है जैसे प्रान्त या मण्डल-निवासियों की अपेक्षा जो जो माण्डलिक या प्रान्तपति राजा हैं, वे ही सर्वाधिपति की प्रजा कहे जाते हैं, वैसे ही स्वाप्निक प्रपंच तथा रज्जु सर्पादि लोकप्रसिद्ध मिथ्या पदार्थों की अपेक्षा

आकाशादि प्रपंच सत्य समझे जाते हैं, वे ही परमार्थ परमसत्य की अपेक्षा मिथ्या कहलाते हैं। छोटे छोटे राजाओं के राजा को जैसे 'राजराज' कहा जाता है, वैसे ही लौकिक सत्यों के सत्य के 'सत्य का सत्य' कहा जाता है। नीरस निःसार प्रपंच का सत्य एवं सरस बनानेवाले भगवान सत्य के सत्य एवं रसस्वरूप कहे जाते हैं। सत्यस्य सत्य आदि वचनों से भी स्पष्ट विदित होता है कि सत्य अनेक होते हैं। भगवान् अव्यवहार्य्य एवं मुख्य परमार्थ सत्य हैं, प्रपंच व्यावहारिक सत्य है। चीनी मिसरी आदि में स्वतः माधुर्य है और मोदकादि में उनके सम्बन्ध से अतः मोदकादि में परतः माधुर्य्य कहा जाता है—

"जासु सत्यता तें जड़ माया, भास सत्य इव मोहसहाया।"

प्रायः सभी ईश्वरवादी जीव जगत् की अपेक्षा ईश्वर को विलक्षण मानते हैं। जीव कर्ता भोक्ता सुखी, दुःखी तथा प्रपंच सुख-दुःख-मोहात्मक जड़ात्मक है और भगवान् सुख दुःख जड़ प्रपञ्चातीत स्वप्रकाश, परमानन्दस्वरूप हैं, तो फिर उन दोनों की सत्ता ही में समानता क्यों? क्या जैसी क्षणभङ्गुर पदार्थों की सत्यता, वैसी ही त्रिकालाबाध्य परमार्थ वस्तु को भी सत्यता हो यह कैसे कहा जाय। बाध्यत्व ही मिथ्यात्व है और अबाध्यत्व ही सत्यत्व है। आपेक्षिकघटादि की अबाध्यता 'आपेक्षिक सत्यता' और भगवान् की आत्यन्तिक अनापेक्षिक अबाध्यता ही 'पारमार्थिक सत्यता' है। आत्यन्तिक पारमार्थिक सत्य तत्व की प्राप्ति के लिए आपेक्षिक सत्य प्रपंच की अपेक्षा है। यही प्रपंच प्राप्त परमतत्व की अपेक्षा मर्त्य एवं अनृत कहा जाता है। मिथ्या का अर्थ शुक्त्यादि

के समान किसी वस्तु का अपलाप नहीं, किन्तु सदसद्विलक्षण ही मिथ्या है। अतः भाष्यकार का कथन है कि—

"मिथ्याशब्दो नापह्नववचनः किन्त्वनिर्वचनीयतावचनः।"

जो वस्तु जैसी है, उसे उसी तरह जानना चाहिए। प्रकाशमय तत्त्व-ज्ञान में अनर्थ की सम्भावना कैसी? भ्रान्ति, अज्ञान अनर्थ के मूल एवं स्वयं भी अनर्थरूप ही हैं। कण्टक, गर्त, सर्पादि जानकर बचाये जाते हैं; बिना जाने प्राणी उनमें पड़कर अनर्थ का भागी हो जाता है। यदि देहादि विनश्वर हैं, तो इस तथ्य को छिपाना उचित नहीं है। वेदान्त-शास्त्र से व्यामोहादि की निवृत्ति होती है। शोक, मोह ही प्राणी के कर्तव्या-कर्त्तव्य-निर्धारण में बाधक होते हैं। विवेक, विज्ञान-सामर्थ्य के विनष्ट होने पर पुरुष का पुरुषत्व ही समाप्त हो जाता है—"बुद्धिनाशात्प्रण-श्यति।" शोक-मोह के नष्ट होने पर विवेक-विज्ञान की प्रखरता से प्राणी सर्वप्रकार के कर्तव्यों तथा अकर्तव्यों का निर्णय कर सकता है।

इस तरह वेदान्त, धर्म, ईश्वर ये कभी भी अनिष्ट के हेतु नहीं हैं। प्रमादी के लिए तो आत्मरक्षा का साधन उसका शस्त्र ही उसके नाश का हेतु बनता है, फिर उसके लिए कोई क्या करे? संसार के सन्तापों से सन्तप्त प्राणी को आश्वासन एवं जीवन-प्रदान करनेवाले अध्यात्मबोधक शास्त्रों में जिसे अनिष्टबुद्धि हो, उसे क्या कहा जाय? जिस समय नाना शोक, मोह, चिन्ताओं से प्राणी व्यग्र होता है, नींद तक में विघ्न खड़े होते हैं, उस समय सिवा अध्यात्मज्ञान के और क्या सहारा रह जाता है? सब ओर संकटपूर्ण परिस्थिति में, मुरझाये हुए जीवन में, वेदान्त जीवनी शक्ति का संचार कर सकता है। विपत्तियों की घनघोर घटाओं के बीच

एकमात्र आश्चर्यमय ज्ञान-सूर्य ही सन्त्राण होता है। साँप से लड़ते लड़ते परिश्रान्त नकुल (नेवला) को जिस प्रकार शक्ति-संचारिणी परिचित महौषध ही आश्रय-प्रदान करती है, उसी प्रकार चिन्ता-सर्पिणी से पीड़ित प्राणी को निर्विष, निःशोक बनानेवाला एकमात्र अध्यात्मशास्त्र ही है। संसार में कौन ऐसा व्यक्ति है, जिसे वासनाओं तथा चिन्ताओं ने नहीं सताया ?—

"चिन्ता-सांपिनि काहि न खाया, को जग जाहि न व्यापी माया।"

किसी भी दशा में वेदान्त अपने ज्ञानलोक से प्राणी को निर्भय एवं निःशोक बना सकते हैं। यह आत्मा के उस अखण्ड, अनन्त रूप को प्रदर्शित कर देते हैं, जो समस्त शोक, मोह, सम्पत्ति, विपत्ति तथा सभी परिस्थितियों का निर्विकार प्रकाश है, सारे उपद्रव जिसका स्पर्श तक नहीं कर सकते, जिसको जान लेने से अनेकानर्थपूर्ण भवसागर में भी चारों ओर परमानन्दसुधासागर ही दृष्टिगोचर होता है। आधियों की निवृत्ति, तथा धैर्य्य ,लाभ आदि जो कि व्यावहारिक कार्य्य-क्षेत्रों में हर तरह से अपेक्षित होते हैं, वेदान्त उनका भी अचूक महौषध है। ऐसी परिस्थिति में क्या कोई भी बुद्धिमान् विवेचक अध्यात्मवाद को लोकव्यवहार में अनुपयुक्त और अकर्मण्यता का निदान करने का साहस कर सकता है ?

मोह-महिमा

संसार में जहाँ कितने ही महापुरुष ऐसे हैं, जो विकारहेतु के विद्यमान रहने पर भी विकृत नहीं होते, अनन्तानन्त विक्षेप की सामग्रियाँ रहते हुए भी वे उन के चित को क्षुब्ध नहीं कर सकतीं, वहीं संसार में ऐसे भी अनेक उदाहरण हैं कि कुछ न होते हुए भी मनःपरिकल्पित मिथ्या राग—मिटाने का शतधा प्रयत्न करने पर भी—अनिवार्यसा बना रहता है। राजा सुरथ अपने अमात्यों से बहिष्कृत होकर अरण्य में पहुँच जाने पर भी ममत्वाकृष्टमतस्क होकर सोचता था कि जिस पुर का मैंने और मेरे पूर्वजों ने पालन किया, मेरे बिना अब उसका क्या होगा? असद्वृत्त मेरे अमात्य ठीक ठीक पालन करेंगे या नहीं? मेरा मतवाला हाथी शत्रुओं के वश में चला गया, अब उसे खुराक आदि ठीक मिलती है या नहीं? जो प्रसाद, धन भोजनादि से सदा मेरा अनुगमन करते थे, वे अब दूसरे लोगों का अनुवर्त्तन करेंगे, जिस कोष का मैंने बड़े कष्ट से संचय किया था, उसका सदा व्यय करनेवाले शत्रुओं के द्वारा क्षय हो जायगा—

"असम्यग्व्ययशीलैस्तैः कुर्वद्भिः सततं व्ययम्।
सञ्चितः सोऽतिदुःखेन क्षयं कोषो गमिष्यति॥"

सोचिये, अब जो चीज अपनी रह न गयी, उसके लिए इतनी चिन्ता क्यों होनी चाहिए? सुरथ के समान ही एक दूसरा और उसे मित्र मिल गया—समाधि वैश्य। वह अपनी और विलक्षण कथा सुना चला—"मैं बड़े धन

वान् कुल में उत्पन्न हुआ था, परन्तु धन के लोभ से मेरे दुष्ट पुत्रों और स्त्री ने मुझे निकाल दिया। पुत्र-स्त्री से वियुक्त होकर और आत्म-बन्धुओं से भी तिरस्कृत होकर मैं वन में चला आया हूँ। परन्तु यहाँ मुझे अपने पुत्र-दारादि कुटुम्बियों के कुशल अकुशल का कुछ भी समाचार नहीं मिल रहा है। पता नहीं उन लोगों के घर में कुशल-क्षेम है या नहीं? पुत्र सद्वृत्त हैं या दुर्वृत्त? सुखी हैं या दुःखी?" राजा ने पूछा—"जिन लोभी पुत्र-दारादि ने तुम्हारा परित्याग ही कर दिया, फिर उनमें तुम्हारा स्नेह क्यों?" वैश्य ने कहा—"महाराज! बात तो कुछ ऐसी ही है, क्या करूँ मेरे मन में निष्ठुरता नहीं आती। जिन्होंने पितृस्नेह का परित्याग कर दिया, पत्नी ने पति-प्रेम तथा स्वजनों ने जनप्रेम परित्याग कर दिया, फिर भी उनके प्रति मेरे मन में क्यों स्नेह है, समझ में नहीं आता।" दोनों ने मिलकर सुमेधा मुनि से अपनी अवस्था बतलायी। राजा ने कहा—'मेरा राज्य और राज्याङ्ग सब चला गया। यह वैश्य भी स्वजनों से पूर्ण तिरस्कृत हो चुका, फिर भी क्यों उन में राग है? मन में निष्ठुरता क्यों नहीं आती?" विषयों में दोषदर्शन कर लेने पर भी सहसा राग की निवृत्ति नहीं होती। परस्पर स्नेह भी बन्धन का कारण होने से त्याज्य है। विचार करने से शुद्धचिदात्म-स्वरूप जीवात्मा के लिए मिथ्या भौतिक शरीर, तत्सम्बन्धी एवं धनादि में राग का स्थान कहाँ? लौकिक दृष्टि से भी परस्पर ही स्नेह ठीक है। परन्तु जो बिल्कुल नहीं चाहते, क्रूर से क्रूर व्यवहार करने को प्रस्तुत हो सकते हैं, उनमें भी स्नेह और दुस्त्यज स्नेह? यही मोहमहिमा है।

'भागवतमाहात्म्य' में धुन्धुकारी की कथा प्रसिद्ध है। जिन

वेश्याओं को प्रसन्न करने के लिए अपने माता-पिता के दुःख का कारण बना, जिनके लिए अपना पैतृक धन गंवाया और जिनके लिए चोरी की, उन्होंने ही धन के लोभ से मुख में अङ्गार डालकर जलाकर मार डाला। एक राजा को बड़ा सुन्दर फल मिला, उसने अपनी प्रेयसी पत्नी के स्नेह में स्वयं न खाकर उसको ही खिलाकर अमर बनना चाहा। वह प्रेयसी किसी अपने अन्य प्रेयान् में आसक्त थी, अतः पतिस्नेह की रञ्चभर भी परवाह न करके उसे अमर बनाने के लिए उसने वह फल उसे दे दिया। उसकी भी प्रेयसी कोई वेश्या थी, उसने उसे दिया। वेश्या ने सोचा—मैं क्या खाऊं, मेरा तो जीवन पापमय ही है, यह फल धर्मात्मा राजा को दूं। यह सोचकर उसने वह फल राजा को दिया। राजा आश्चर्य में पड़ गया। पता लगाया तो सब रहस्य विदित हुआ। यह उसकी निर्वेदोक्ति प्रसिद्ध है—अहो! जिसका मैं सर्वदा स्नेह से चिन्तन करता हूँ, वह मुझ से विरक्त है। इतना ही नहीं, वह दूसरे को चाहती है। वह भी दूसरे में आसक्त है और उसकी भी आसक्ति का विषय किसी कारण से मुझ पर सन्तुष्ट है, उसको, मदन को और इसे तथा मुझे सब को धिक्कार है—

"यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता
साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या
धिक्तांच तञ्च मदनञ्च इमाञ्च माञ्च॥"

यह अनुभव करके आखिर राजा विरक्त हो गया। सुरथ और समाधि को भी वैराग्य उत्पन्न हुआ। परन्तु एक दो-बार अपमानित

होकर भी, तत्त्वज्ञानवान् होकर भी, स्थिर वैराग्यवान् होना जन्म-जन्मान्तर के पुण्यों का ही फल है। यों तो रागाभास तत्त्वज्ञानी को भी होता ही है। प्रसिद्ध ही है कि महामाया भगवती ज्ञानियों के भी मन को बलात् आकृष्ट कर लेती है—

"सो ज्ञानिहुँ कर मन अपहरई, बरियाई विमोहवश करई।"

अज्ञानी की तो कथा ही क्या, ज्ञानी को भी व्यामोह हो जाता है। व्यामोह ग्राह ही है, सब के लिए। उसकी निवृत्ति के बिना निरङ्कुश तृप्ति किसी को भी प्राप्त नहीं होती। पदार्थों की क्षणभंगुरता स्पष्ट है। शरीर का अस्थि, चर्म, मूत्र, पुरीषादि मलिन पदार्थों से निर्मितत्व स्पष्ट है। फिर भी राग-द्वेष का अभिनिवेश मिटना सरल नहीं है। परन्तु यह भी सत्य है कि बिना इनके मिटे शान्ति भी सम्भव नहीं है। छाया के समान पदार्थ हैं। उनका अनुगमन करने पर वे हाथ नहीं लगते। विषयों, इन्द्रियों और मन के किङ्कर बने रहने पर प्राणी को सारे विश्व का किङ्कर होना पड़ता है। एक बार जी कड़ा करके विषयों से विमुख हो जाओ, संसार से मुंह मोड़ लो, फिर सुखी हो जाओगे, मनचाही वस्तु स्वयं पीछे लगी घूमेगी। यदि भोक्ता भोग्य का गुलाम न बना, तो भोग्य को ही भोक्ता का गुलाम बनना पड़ता है।

विचार के द्वारा मोह का समूलोन्मूलन होता है। परन्तु इन्द्रियनिग्रह, तपस्या और परात्मा के मंगलमय श्रीचरणों की कृपा परमावश्यक है। उसके बिना तो सब साधन व्यर्थ ही हो जाते हैं। इन्द्रिय-निग्रह के बिना सच्छिद्र घट में डाले हुए जल के समान तपस्या का क्षरण हो जाता है। तपस्या के बिना सम्पूर्ण विचार केवल मनोराज्यमात्र हो जाता है। परन्तु उपास-

नाशक्ति से विचारों में वीर्य्यवत्ता आती है, अन्यथा पदार्थों की नश्वरता और घृणास्पदता शीघ्र ही निर्णीत हो जाने पर भी निष्ठा और आचरण में कठिनाई क्यों होती ? जिनको बाह्य वस्तुओं के विश्लेष और संश्लेष से हर्ष और क्षोभ नहीं होता, उन्हें जगज्जननी जनकनन्दिनी जानकी नमस्कार करती है—

"धन्याः खलु महात्मानो मुनयः सत्यसम्मताः ।
जितात्मनो महाभागा येषाँ न स्तः प्रियाप्रिये ॥ ४५ ॥
प्रियान्न संभवेद् दुःखमप्रियादधिकं भवेत् ।
ताभ्यां हि ये वियुज्यन्ते नमस्तेषां महात्मनाम् ॥ ४६ ॥"

(येषां मुक्तानां प्रियाद्वियुज्यमानाद् दुःखं न सम्भवेत् अप्रियात्संयुज्यमानादधिकप्रियवियोगादप्यधिकं दुःखं न भवेत् । अप्रियादधिकं भयमिति योज्यम् । संयुज्यमानाप्रियादधिकं महद्भयमपि न भवेदित्यर्थः । ताभ्यां प्रियवियोगजदुःखाऽप्रिय-संयोगजदुःखभयान्यतराभ्यां ये न वियुज्यन्ते तेषां महात्मनां मामिका नमस्क्रियास्तु ॥" (सु० का० २६ सर्ग)

आत्मकल्याण और विश्वकल्याण

शास्त्रों का यथार्थ अभिप्राय समझकर, धर्माधर्मव्यवस्था जानकर आचरण करने से ही लौकिक-पारलौकिक सुख होता है। बड़े बड़े योगीन्द्र, मुनीन्द्र, अमलात्मा परमहंस वीतरागादि महात्माओं का स्वभाव ही भगवान् का भजन करना हो जाता है। 'स्वभावो भजनं हरेः' किन्तु इनमें भी कुछ लोकसङ्ग्रही स्वयं आप्तकाम होते हुए भी धर्मानुष्ठान में लगे रहते हैं। विश्व की कल्याणकामना से प्रेरित होकर वे दुनियाँ के बखेड़े में पड़ते हैं। ऐसे लोगों को विशेष भगवद्भजन अपेक्षित होता है। आखिर यह दुनियाँ का बखेड़ा है न। इसका सम्बन्ध भयानक उत्तेजक है। और कुछ ऐसे परमात्मनिष्ठ होते हैं, जिन्हें किसी से कुछ सरोकार नहीं। वे दुनियाँ की चिन्ता नहीं करते, क्योंकि वे समझते हैं कि दुनियाँ कुत्ते के पूँछ के समान है, उसमें कितना ही तेल लगाया जाय, घी लगाया जाय, बाँस की नली में डालकर सीधा किया जाय, पर रहेगी वह टेढ़ी ही टेढ़ी। महानुभावों का प्रयत्न निष्फल नहीं हुआ, बहुतों को लाभ ही हुआ, पर दुनियाँ की रफ्तार नहीं बदली। प्रह्लादजी ने भगवान् से कहा—'प्रभो ! मैं इन संसार के प्राणियों को दुःखी देख कर अकेला मुक्त होना नहीं चाहता', इस पर भगवान् ने कहा—प्रह्लाद ! सब का दुःख छूट जाय, सब की मुक्ति हो जाय यह बड़ा कठिन है। एक श्रोत्रिय, जो आज धर्माधर्म जाननेवाला है, वही कल नीच से नीच कर्म में प्रवृत्त हो सकता है।

"पाई सुरदुर्लभ पदादपि गिरत हम देखे हरी।"

ऊँचे से ऊँचे पद पर से लोग गिर जाते हैं। जब एक जीव की मुक्ति में इतनी झंझट है, तब फिर सब जीव मुक्त हो जांय, यह कैसे हो सकता है ?' अतः वेदान्त कहता है कि आँख खोले, स्वप्न का संसार मिटे, तो मुक्ति हो, किन्तु यह निद्रा भंग नहीं होती, स्वप्न नहीं मिटता और आँख नहीं खुलती, तो सब की मुक्ति कैसे होगी ? 'योगवाशिष्ठ' में वशिष्ठ ने राम से कहा है—'हे राम ! एक रजकण में मुझे अनेक ब्रह्माण्ड परिलक्षित होते हैं।' धूलि का छठा अंश परमाणु, उसका पञ्चमांश तन्मात्रा, उसका आयत्त थोड़े अंशों में वायु प्राण, उसके सूक्ष्म अंश में मन, मन में ब्रह्माण्ड, उसमें अनन्त मन, अनन्त मन में अनन्त ब्रह्माण्ड अतः सूक्ष्म रजकण में भी अनेक ब्रह्माण्ड हैं। एक बरगद के बीज में वृक्ष है, उस वृक्ष में पुनः बीज, पुनः वृक्ष, याने एक बीज में करोड़ों वृक्ष हैं। इस प्रकार अनन्तानन्त ब्रह्माण्ड में अनन्तानन्त जीव हैं, इन सब की मुक्ति कैसे होगी ? इसलिए महात्मा लोग ऐसा विचारकर विजन वन में निवास करते हुए मौन धारण कर लेते हैं। ठीक ही है, दूसरे का कल्याण भी तभी कर सकते हैं, जब अपना कल्याण कर लें। नहीं तो—

"एकहि एक सिखावत तुलसी जपहिं न राम।"
"स्वयं तीर्णः परान्तारयति, स्वयं भ्रष्टः परान्
भ्रंशयति, स्वयं नष्टः परान्नाशयति।"

अतः हरएक व्यक्ति दुनियाँ के कल्याण को छोड़, भगवद्परायण होकर पहले अपना आत्मकल्याण प्राप्त करे, फिर दुनियाँ के कल्याण की चिन्ता में

पड़े। प्रह्लादजी स्वयं तीर्ण हुए, अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक प्रभु को प्राप्त कर लिया, कृतकृत्य हो गये, तब आये विश्वकल्याण के क्षेत्र में।

"कामानां हृद्यसंरोहः भवेदेष वरो मम।"

ऐसे परमनिष्काम होते हुए भी वे अपनी नित्य की उपासना में कहा करते थे—विश्व का कल्याण हो, खल भी प्रसन्न हो जांय, सब का मन भद्र वस्तु की ओर प्रवृत्त हो, हम सब की अहैतुकी मति भगवान अच्युत में प्रविष्ट हो—

"स्वस्त्यस्तु विश्वस्य, खलः प्रसीदताम्,
ध्यायन्तु भूतानि मिथः शिवं धिया।
मनश्च भद्रं भजतामधोक्षजे
आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी॥"

पर यह कामना नहीं है। जब भक्तराज जैसे निष्काम लोग भी इस भावना को निष्कामता का बाधक नहीं मानते, तब और कोई इस विषय में क्या कह सकता है? जैसे भगवान् में राग वैराग्य का बाधक नहीं, किन्तु वैराग्य का भी परम फल है, वैसे ही निष्काम कर्मों का यह परम फल है कि प्राणी संकीर्णता से मुक्त होकर विश्वकल्याण, धर्मरक्षण का शुभानुसन्धान करने लगे। विषयेन्द्रियजनित सम्प्रयोग क्षुद्र सुखकणों की कामना ही निन्द्य है। अचिन्त्य, अनन्त परमानन्दसिन्धु भगवान् के सम्मिलन की कामना तो अत्यन्त निष्काम होने का परम फल है। अनन्त, अखण्ड, निःसीम, बोधस्वरूप आत्मा को कार्यकरणसंघातलक्षण उपाधि के भीतर सीमित करके विविध व्यष्टिहितों की कामना स्वार्थपरायणता कहलाती है। स्थूल देह को स्व मानकर उसके प्रयोजन खाने, पीने, पह-

नने आदि को साधारण रूप से प्राणी स्वार्थ समझता है। सूक्ष्म शरीर को स्व मानकर उसके प्रयोजन देखने, सुनने, सूँघने आदि को स्वार्थ समझा जाता है। कारणशरीर या आनन्दमय को स्व मानकर उसके प्रयोजन सोने, आनन्द लेने, प्रिय, मोद, प्रमोद आदि को स्वार्थ कहा जाता है अर्थात् जाग्रत के सभी आनन्द और उसके साधन स्वप्न के आनन्द और तत्साधन सुषुप्ति सभी अनात्मा, व्यष्टि या परिच्छिन्न आत्मा को स्वजानकर उसी के अर्थ को स्वार्थ मानकर प्राणी फँसता है। व्यष्टि-समष्टि सर्वोपाधिविमुक्त अखण्ड बोध ही आत्मस्वरूप है और वही असली स्व है, उसका अर्थ, निजी प्रयोजन, अध्यारोपित सकल अनर्थ का निबर्हण और स्वरूपभूत परमानन्द की प्राप्ति ही है। अतः वही असली स्वार्थ है। उसके लिए अपेक्षा है पहले व्यष्टि अभिमान मिटाया जाय। व्यष्टि अभिमान मृत्यु है, समष्टि अभिमान अमृत है। राग, द्वेष, हिंसा आदि अनेकों अनर्थों का मूल व्यष्टि अभिमान ही है। जिसने समष्टि विश्व को आत्मा या आत्मीय मानना सीख लिया, वह जीते जी ही मृत्यु से मुक्त हो अमृत हो जाता है। द्वेष, दम्भ, कपट आदि उसके न जाने कहाँ चले जाते हैं। जैसे व्यष्टि देहादि में अभिमान रखनेवाला व्यक्ति अपने व्यक्तिगत हित के लिए सचेष्ट होता है, वैसे ही समष्टि अभिमानवाला व्यक्ति विश्व के हित के लिए सचेष्ट होने लगता है। इसके अतिरिक्त वह विश्व को केवल जड़ समझकर ही उसकी सेवा में नहीं लगता, किन्तु भगवान् का ही स्थूल शरीर मानकर विश्व की सेवा करता है। इसीलिए अहङ्कार, ममकार से शून्य होकर, सफल-निष्फल होने की परवाह न करके, सुयश-दुर्यश, अपमान-सम्मान का ध्यान न रखकर ही

प्रवृत्त होता है। जैसे शुद्ध भाववाला प्रेमभाव से अपने भगवान् का जय मनाता है, वैसे ही वह सम्पूर्ण संसार का हित चाहता है। साथ ही विश्व को उसके हित धर्म में प्रवृत्त कराना चाहता है। इस दृष्टि से अथवा किसी भी दृष्टि से धर्म का जय या विश्व के कल्याण की कामना वैसे ही कामना नहीं कही जा सकती, जैसे प्रभुचरणारविन्दमकरन्द की तृष्णा तृष्णाकोटि में परिगणित नहीं होती। कहने का अभिप्राय यह कि कोई भी वस्तु विषय, आचार एवं स्वरूप से ही उत्कृष्ट, अपकृष्ट समझी जाती है। जैसे अग्निहोत्रादि स्वरूप से, गोपियों का काम विषय की महिमा से एवं श्रीकृष्ण की चोरी आचार की महिमा से उत्कृष्ट है। एक भक्त कहता है—'हे श्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन! जो लोग आपकी नवीनतचोरता इत्यादि का वर्णन करते हैं, आप उन्हें शीघ्र ही अपना रूप दे देते हैं; क्योंकि वह यदि अलग रहेगा, तो निन्दा करेगा।' अतः प्रह्लादादि पूर्णकाम होने पर भी जो लोककल्याण कर रहे हैं, वह इसीलिए कि परमप्रियतम परप्रेमास्पद प्राणधन प्रभु को जो अच्छा लगे, वह करना हमारा धर्म है। भगवान् निर्गुण, निराकार से सगुण, साकार होते हैं किसलिए? इसलिए कि धर्म की स्थापना हो, साधुओं की रक्षा, दुष्टों का नाश हो, इत्यादि। 'धर्मसङ्घ' के चार नारों में भी यह बातें आ जाती हैं।

कुछ लोग पाना सब कुछ चाहते हैं, पर साधन एक भी नहीं करना चाहते, फिर भी यदि भगवत्-शरणागति हो, तो सब काम बन सकता है और यदि साधन सब हों, भगवत्-शरणागति न हो, तो सब व्यर्थ है। केवल विश्वासपूर्वक प्रभु का सहारा लेने

से भुक्ति-मुक्ति सब कुछ मिल सकती है। विभीषण को राज्य मिला। जिसे दश मस्तक काटने पर शिवजी ने रावण को दिया था, उसी राज्य को प्रभु ने सकुचते हुए विभीषण को दिया, जैसे किसी अतिथि को कुशासन दिया जाता है। आते ही प्रभु ने विभीषण को 'लङ्केश' शब्दसे सम्बोधित किया। कल-कारखानेवाले जिस प्रकार कपड़े को बड़ी सावधानी से रखते हैं, क्योंकि यदि कपड़े की एक कोर भी छू गयी, तो मशीन सम्पूर्ण कपड़े को खींच लेती है, उसी प्रकार भगवान् भी जरा सम्बन्ध हुआ कि आत्मसात् कर लेते हैं।

कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जो पाना तो सब कुछ चाहते हैं, पर साधन एक भी नहीं और भगवान् पर विश्वास भी नहीं। उनके लिए "भाव कुभाव अनख आलसहुँ" किसी भी प्रकार से भगवान् का पवित्र मङ्गलमय नाम ही कल्याणकर है। तभी तो भक्तलोग भगवान् से कहते हैं—'प्रभो! मैं अपने को नहीं जानता। मैं अल्पज्ञ हूँ, अज्ञानी हूँ। यदि पागल अपने हाथों तलवार से अपना शिर काटे, तो वह दया का पात्र है, क्रोध का नहीं। वैसे ही हम यदि आप को नहीं मानते, धर्म का विरोध करने में प्रसन्न होते हैं, अपने को धन्य धन्य समझते हैं, तो यह हमारा पागलपन है। यदि हम आप को भूलें, तो यह हमारी कोई बड़ी गलती नहीं, पर यदि आप हमें भूलते हैं, तो आप की बहुत बड़ी गलती है। आप जीवों के मित्र है। श्रुतियों ने बतलाया है-जीवात्मा और परमात्मा दोनों ही एक शोभन पंखवाले सुपर्ण एक जाति के पक्षी हैं, इसलिए भी उन दोनों की परस्पर पूर्ण मैत्री है। परमात्मा पालक सखा है, जीवात्मा बालक सखा है। दोनों ही की 'चेतन अमल सहज सुखराशिरूप' से ख्याति

है। कहीं साजात्य, सख्य होने पर भी दुर्दैवयोग से भिन्न देश में रहने के कारण सम्बन्ध कमजोर हो जाता है। परन्तु यहाँ तो एक ही शरीररूप वृक्ष पर जीवात्मा-परमात्मा दोनों ही पक्षी रहते हैं, अतः साजात्य, सख्य, सादेश्य तीनों तरह के सम्बन्ध दृढ़ हैं। यद्यपि भगवान् जड़वर्ग से सर्वदा असंस्पृष्ट, निर्लेप रहते हैं, तथा चिद्रूप जीवात्मा के साथ तो भगवान् का तादात्म्य या अभेद सम्बन्ध रहता है। अतः साजात्य, सख्य, सादेश्य के समान ही सायुज्य भी सर्वदा रहता है। जैसे कभी घटाकाश महाकाश से वियुक्त नहीं होता, तरङ्ग जल से वियुक्त नहीं होता, घट-शरावादि मृतिका से वियुक्त नहीं होते, कटक-मुकुटादि सुवर्ण से पृथक् नहीं होते, वैसे ही जीवात्मा कभी भी भगवान् से अलग नहीं होता। अतः नाथ! हम तो बालकसखा हैं, यदि बालकपन करें तो कोई आश्चर्य नहीं, किन्तु यदि आप प्राज्ञ सखा होकर बालकपन करें, तो यह आप की बड़ी भारी भूल है। प्रभो! आप को यह स्मरण रखना चाहिए कि—

"जो न मित्रदुख होहिं दुखारी, तिन्हहिं बिलोकत पातक भारी।"

इत्यादि। इसीलिए हनुमान् जी कहते हैं—

"मोर न्याउ मैं पूछेउं साईं, तुम कस पूछहु नर की नाईं।"

भगवान् शङ्कराचार्य भी कहते हैं कि—

"कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।"

तुलसीदासजी भी कहते हैं कि नाथ! मेरा मन मछली है, वह विषयरूप जल से कभी भी अलग नहीं होता। आप एक दिन शिकार खेलें, अनुकम्पा की डोर बना लीजिये, चरण की बंशी और उस बंशी में

परमप्रेमरूपी मृदु चारा बांधकर मेरे मन को फंसा लीजिये। इस प्रकार आप का खेल और मेरा परमकल्याण हो जायगा—

"विषय-वारि मन-मीन भिन्न नहिं होत कबहुं
पल एक ताते सहौं बिपति अति दारुन,
जनमत जोनि अनेक कृपा डोरि बंशी पद अंकुस
परम प्रेम मृदु चारो। एहि विधि हरहु मेरो दुख
कौतुक राम तिहारो॥"

श्रुतियों ने भगवान को ही जीवों के परममित्र और सखा बतलाया है। परमस्नेही को ही मित्र कहा जाता है, तन्मूलक ही सख्य होता है। नवधा भक्ति में भी सख्यभक्ति का बड़ा ऊंचा स्थान है। सख्य के पश्चात् केवल आत्मनिवेदन ही अवशिष्ट रह जाता है। श्रीदामा, सुदामा, उद्धव, अर्जुन आदि भगवान् कृष्ण के सखा एवं मित्र थे। गोपांगनाएं भगवान् की सखी थीं, कृष्ण उनके सखा थे, इनकी अपार प्रीति अत्यन्त ही सुप्रसिद्ध है। सख्यभाव में कितनी स्निग्धता है? अर्जुन ने कहा है—प्रभो! मेरी अपकृतियों को आप वैसे ही क्षमा करें, जैसे सखा अपने सखा के अपराध को क्षमा करता है—

"सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्।"

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति।"

यह श्रुति बतलाती है कि जीव और ईश्वर दोनों सुपर्ण एक दूसरे के सखा हैं। वे सदा एक ही स्थान पर मिले हुए रहते हैं। उनमें से एक जीवरूपी सुपर्ण कर्मफल का भोक्ता बनता है, दूसरा ईश्वररूपी सुपर्ण

केवल साक्षी बना रहता है। ईश्वर परमनिरपेक्ष होता हुआ भी जीव का परमहितैषी और सच्चा साथी है। स्वर्ग, नरक, गर्भवासादि किसी भी समय जीव का साथ परमेश्वर नहीं छोड़ते, प्रत्युपकारनिरपेक्ष उपकार करने-वाले एक भगवान् ही हैं।

"नीति प्रीति परमारथ स्वारथ, कोऊ न रामसम जान जथारथ।"

राम के समान कोई भी नीति, प्रीति, परमारथ, स्वारथ को नहीं जानता। सुग्रीव से बात करते हुए श्रीरामचन्द्र ने मित्र के स्वरूप और कर्तव्यों का इस प्रकार से निर्देश किया है—'सुग्रीव ! जो लोग मित्र के दुःख में दुःखी नहीं होते, उनको देखने से भी पाप लगता है। मित्र वह रज होता है, जो अपने पहाड़ जैसे दुःख को भी रज के समान जानता है और मित्र के रज के समान दुःख को भी पर्वत के समान जानता है। जिनके सहज भाव इस तरह के नहीं होते, उनसे मैत्री करना व्यर्थ है। मित्र का कर्तव्य होता है कि वह अपने मित्र को कुपथ से हटाकर सुपथ में लगाये, मित्र के गुणों को प्रकट करे और दोषों को छिपाये, किसी वस्तु के लेने-देने में शंका न करे, अपने बल के अनुसार सदा मित्र का हिताचरण करे, विपत्तिकाल में सौगुना अधिक स्नेह करे। श्रुति, सन्त मित्र का यह गुण बतलाते हैं। बहुत लोग सामने तो बहुत मीठी-मीठी बात बनाया करते हैं, पीछे मन में कुटिलता और अहित की भावना बनी रहती है। जिसका चित्त साँप की गति के समान कुटिल होता है, ऐसे कुमित्र को छोड़ देने से ही कल्याण होता है। सेवक शठ हो, राजा कृपण हो, नारी कुत्सित हो, मित्र कपटी हो, तो इन्हें शूल के समान ही समझना चाहिए।

आस्तिकवाद और विश्वशान्ति

"असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेति वेद चेत् ।
अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः ॥"

समस्त विश्व का अधिष्ठानभूत परब्रह्म परमात्मा नहीं है, परलोक नहीं है तथा उसकी प्राप्ति का साधन धर्म एवं तद्बोधक प्रमाणभूत शास्त्र नहीं है ऐसा समझनेवाला व्यक्ति स्वयं असत् हो जाता है। उसके देह इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार की समस्त चेष्टाएं पशुओं की चेष्टाओं के समान होती हैं। उसके लिए पशुता एवं मानवता में कुछ भी भेद नहीं रह जाता, क्योंकि आहार, निद्रा, भय और मैथुन यह सब तो मनुष्यों के समान ही पशुओं में भी होते हैं, धर्म ही एक ऐसी वस्तु है, जो कि मनुष्य को पशु से विलक्षण सिद्ध करती है। यदि ईश्वर एवं धर्म की भावना मनुष्य में न हुई, तब तो वह भी पशुतुल्य ही है। इतना ही क्यों, वह तो पशु से भी निकृष्ट कोटि में परिगणित होता है। इसीलिए महानुभावों ने उसे शृङ्गपुच्छविहीन पशु कहा है — 'सो नर पशु बिनु पूंछ विषाना'। मशक और मक्षिका आदि के उपद्रवों को दूर करने में पुच्छादि से पशु को सहायता मिलती है, परन्तु शृङ्गपुच्छविहीन पशु को अधिकाधिक सन्ताप ही सन्ताप रहता है। इसी तरह धर्मविहीन मनुष्य की स्थिति होती है।

परमात्मतत्व का अस्तित्व निश्चित रहने पर ही उसकी प्राप्ति की रुचि एवं उत्कंठा हो सकती है और तभी धर्म का अनुष्ठान और

पाशविक उच्छृङ्खलता मिटाने का प्रयत्न हो सकता है। धर्मानुष्ठान से ही सांसारिक उन्नति भी हो सकती है। साम्राज्य, स्वराज्य, धन-धान्यादि सभी सुख एवं सम्पत्तियां धर्म के ही फल हैं। धर्म के न रहने पर वे कुछ भी नहीं मिलतीं। ऐसी स्थिति में प्राणी तृण के समान नगण्य, अतएव असत्प्राय हो जाता है। जब तक प्राणी में कर्तव्या-कर्तव्य, हेय-उपादेय, धर्म-अधर्म और आत्मा अनात्मा की विवेकबुद्धि रहती है, तभी तक वह सच्चा पुरुष कहलाने का अधिकारी होता है। उक्त विवेक बुद्धि के सम्पन्न होने या नष्ट हो जाने पर पुरुष कहलाने का अधिकारी भी नहीं रहता। अतएव बुद्धि के नाश से पुरुष का नाश कहा गया है—'बुद्धिनाशात्प्रणश्यति'। यों भी जैसी भावना से भवित मतिवाला प्राणी होता है, वैसी ही उसकी स्थिति हो जाती है। अतः 'नहीं है परमेश्वर', 'नहीं है ब्रह्म'—ऐसी भावनीवाला व्यक्ति 'नहीं' ही जैसा हो जाता है। इसके विपरीत 'अस्ति ब्रह्म' ऐसी बुद्धिवाला पुरुष सत् (सन्त) हो जाता है।

'सर्वाधिष्ठान परब्रह्म तत्व है' ऐसी बुद्धि होने से उसकी प्राप्ति के लिये धर्म एवं तद्बोधक शास्त्र का अवलम्बन करना होता है। तदर्थ पाशविक उच्छृङ्खल व्यापारों का परित्याग करना ही पड़ेगा। ऐसी स्थिति में अधर्म-परिवर्जन अवश्य होगा, जिससे शूकर-कूकरादि योनियों की प्राप्ति नहीं होती। धर्म के सेवन से दिव्य योनियों की प्राप्ति होती है, ब्रह्मनिष्ठ होने से प्राणी ब्रह्म ही हो जाता है। 'अस्ति ब्रह्म' ऐसी बुद्धि रखने वाला अस्ति ही, सन्त ही हो जाता है। अतएव श्रुतिमाता ने आज्ञा की है कि 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः।' ईश्वर और परलोक में

विश्वास रखनेवाला व्यक्ति अत्याचार अन्याय और अधर्म से डरता है। जब प्राणी साधारण व्यक्ति के सामने भी पाप करते हुए संकोच करता है, तब सर्वान्तरात्मा सर्वसाक्षी सब के हार्दिक भाव-कुभाव के भासक भगवान् से कौन से दोष एवं पाप छिपाये जा सकते हैं। इस दृष्टि से आस्तिकवाद ही विश्व में शान्ति एवं सुव्यवस्थापन कर सकता है।

पाणिनि ने 'अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः' इस सूत्र से यह दिखलाया है कि

'अस्ति दिष्टं परलोक इत्येवं मतिर्यस्यासावास्तिकः,
नास्ति दिष्टं परलोक इत्येवं मतिर्यस्य स नास्तिकः।

पर लोक है ऐसी बुद्धि जिसकी है, वह आस्तिक है। परलोक नहीं है ऐसी जिसकी मति है, वह नास्तिक है। किसी न किसी रूप में परलोक पर विश्वास करनेवाले लोग परलोक में अशान्ति दुःख न हो इसलिए पापों और अन्यायों से बचने का भाव अवश्य ही रखेंगे। मनु ने वेदनिन्दक को ही नास्तिक कहा है—'नास्तिको वेद निन्दकः।' फिर भी उपर्युक्त पाणिनिमत से मनु की उक्ति का विरोध नहीं है। परलोक होने न होने की कल्पनाएं यदि निराधार हैं, तब तो आस्तिक-नास्तिक शब्दों का अर्थ भी काल्पनिक ही होगा। अतः परलोकविषयिणी भ्रमात्मिका मति जिसकी है, वह आस्तिकाभास है। प्रमा रूपा मति जिसकी है वही आस्तिक है। परन्तु जब परलोक के स्वरूप एवं तत्प्राप्ति के स्वरूप में अनेक मतभेद उठते हैं, तब कौन माना जाय और कौन न माना जाय यह एक कठिन समस्या है। यदि इस विषय के सभी ग्रन्थ या ग्रन्थकार सर्वज्ञ समझे जायं तो मतभेद क्यों। यदि कोई ही सर्वज्ञ

है तो 'कौन सर्वज्ञ कौन अल्पज्ञ' इसका निर्णय कैसे हो ? अतः अनादि जीव जगत पर शासन करनेवाले अनादि परमेश्वर की शासनपद्धतिरूप अनादि वेदों को ही मुख्य प्रमाण मानना उचित है। उनको संसार के सभी ग्रन्थों से प्राचीन आज भी माना जा रहा है। वैदिकों की दृष्टि से वेद अपौरुषेय हैं, अतः भ्रम-प्रमादादि पुरुषाश्रित दोषों से उन्हें दूषित नहीं कहा जा सकता। वे सहजश्वास के समान बुद्धि एवं प्रयत्न की अपेक्षा नहीं करते अतएव अकृत्रिम हैं। उन्हीं से सच्चे परलोक एवं उसकी प्राप्ति के साधनों एवं प्रतिबन्धों को ठीक-ठीक जाना जा सकता है। उनको न माननेवाला ठीक परलोक नहीं समझ सकता अतः वेद का सम्मान करनेवाला आस्तिक और उन्हें न माननेवाला नास्तिक होता है।

सभी व्यक्तियों समाजों एवं राष्ट्रों को जब तक हृदय से परलोक का भय और ईश्वर का डर न होगा तबतक अवश्य ही उन में सङ्घर्ष रहेगा। दूसरों के क्षेत्र, वित्त, कलत्र, भवन, हस्ति अश्व और रथ आदि आनन्दसामग्रियों को देखकर ईर्ष्या होना स्वाभाविक है। गिरोह बनाकर उनके विरुद्ध आन्दोलन खड़ा करके उनके छीनने का प्रयत्न होना भी स्वाभाविक है। इन्हीं भावनाओं से साम्यवाद समाजवाद आदि की सृष्टि होती है। परन्तु आस्तिकवाद की यही विशेषता है कि वह सभी प्राणियों को अपनी स्थिति में सन्तुष्ट रखता है।

धर्मभावना से मजदूर मिलमालिक, किसान, जमीन्दार, उत्तम मध्यम और निम्न सभी श्रेणियों के सभी प्राणियों के लिए शान्ति सन्तोष के साथ अपनी अपनी उन्नति का मार्ग खुला रहता है। धर्मसम्बन्धहीन सम्पूर्ण वाद सङ्कीर्णता के ही कारण होते हैं। किसी में धनिकों के ही लिए

स्थान है, मजदूरों तथा किसानों को नही, किसी में मजदूरों को ही स्थान है, पूंजीपतियों को नहीं। परन्तु आस्तिकवाद में धर्म के बन्धन में सभी बँधे होते हैं, अतः कोई भी किसी पर ज्यादती नहीं कर सकता, इसीलिए महर्षियों ने सर्वनाशक उग्र क्षत्र का भी शासन करने के लिए धर्म की आवश्यकता समझी। सैनिकशक्तिसम्पन्न सम्राट किंवा महान् बलवान् कोई अन्य व्यक्ति ही निर्बल प्राणियों के वित्तों एवं सुन्दर कलत्रों पर आक्रमण कर सकता था, परन्तु एक धर्म क ही भय उन्हें रोकता है।

आज भूखों के गिरोह पूंजीपतियों और राजाओं से धन छिनने के लिए आन्दोलन रचते हैं। पूंजीपति मर मिटना पसन्द करते हैं, परन्तु कुछ देना नहीं चाहते। पहले की स्थिति विलक्षण थी। धनिकवर्ग सम्पूर्ण सम्पति को परमेश्वर को धरोहर मानते थे, अपने को केवल रक्षक या कर्मचारी मानते थे। धर्मरक्षा, राष्ट्ररक्षा एवं भूखों के कष्ट दूर करने में अपनी सम्पति का उपयोग कर अपने को धन्य-धन्य समझते थे। इतना ही क्यों, गरीब से गरीब भी भोजन के समय अतिथि की प्रतिक्षा करते थे, अतिथि मिलने पर आदर से सत्कार करते थे, न मिलने पर खिन्न होते थे। अतिथि पाने के लिए देवताओं से प्रार्थना करते थे, घर में धन होने पर बहुदक्षिण यज्ञों के अनुष्ठान का प्रचार रहता था। रन्तिदेव विकट क्षुधा से पीड़ित रहकर भी श्वपाक एवं श्वान तक का आतिथ्य करने से उपरत नही हुए। स्वयं भूखे रहकर भी अन्न से दुखी लोगों के क्षुधादि कष्टों को मिटाया जाता था। प्राणिमात्र दूसरे के कष्ट दूर करने तथा सुख-शान्तिसम्पादन के लिए व्यग्र रहते थे। सभी दूसरों को देना ही

चाहते थे, लेने से सभी बचना चाहते थे । प्रतिग्रह में समर्थ होकर भी लोग प्रतिग्रह से बचने का ही प्रयत्न करते थे । आज भी ग्रामीण खानदानी शूद्र तक दूसरे की वस्तु लेने में हिचकता है । वह अपनी गाढ़ी कमाई के ही धन का उपयोग करना चाहता है बिना परिश्रम सेंतमेंत की वस्तु तथा बिना हक की वस्तु को हराम की वस्तु समझता है । सब जीव परमेश्वर के अंश परमेश्वरस्वरूप ही हैं इस तरह की भावना से सर्वत्र सहज भ्रातृभाव या परमात्मभाव फैला रहता था । देनेवाले सर्वथा देने का प्रयत्न करते थे, लेनेवाले बचते थे । संसार में 'गृहाण गृहाण—नेति नेति' 'ले लो—नहीं नहीं' का कोलाहल मचा रहता था ।

आज ठीक उसके विपरीत 'देहि देहि—नेति नेति' 'दो दो—नहीं नहीं' का कोलाहल मच रहा है । भूखों का गिरोह कहता है-हम लेंगे और अवश्य लेंगे लूट-खसोटकर मार काटकर लेंगे ही । पूँजीपति कहते हैं—हम चाहे मर जांय जहन्नुम में चले जांय परन्तु कुछ भी नहीं देंगे । आस्तिकवाद में सम्राट लोग भी राजसूय अश्वमेध सर्वस्वदक्षिण आदि यज्ञों में अपने धन को प्रायः वितरण करते थे । यज्ञों में धन, रत्न, वस्त्र अन्नादि आदिकों का इतना दान होता था कि याजक तृप्त हो जाते थे । रामचन्द्र के यज्ञमें इतना दान हुआ कि महाभागा वैदेही के हाथ में केवल सौभाग्यचिन्ह लाल डोरा ही रह गया । इस रूप से आवश्यक शास्त्रविरुद्ध सभी वाद आस्तिकवाद में आ जाते थे ।

जबतक शुद्ध आस्तिकवाद चलता रहता है, तबतक राजा प्रजा और अमीर गरीब सभी एक दूसरे का हित चाहते हुए सुखमय जीवन व्यतीत करते हैं, दूसरों की वस्तुओं को देखकर उन्हें ईर्ष्या नहीं होती । वे जानते

है कि बिना हक और बिना परिश्रम के दूसरों की सम्पत्ति को लोभ की दृष्टि से देखना पाप है। अन्यायपूर्वक दूसरों का माल, हराम का माल है, संसार में सब अपने अपने किये हुए कर्मों का ही फल भोगते हैं। अपने कर्मों से ही कोई सम्राट्, स्वराट्, धनी-मानी होता है, अपने कर्मों से ही कोई दीन-दरिद्र एवं रोग-दोषपरिप्लुत होता है, कर्मों से ही कोई शूकर, कूकर, कीट और पतङ्ग बनते हैं, कोई देवता, दानव और मानव होते हैं। आस्तिक दरिद्र यह सोचता है कि अपने कर्मों से ही हम दरिद्र हैं, अपने कर्मों से ही अमुक-अमुक लोग धनवान् हैं। किसी के धन पर, सुख-सामग्री पर ईर्ष्या करना पाप है, उसे लोभ की दृष्टि से देखना अनुचित है। धन की इच्छा से धर्म और उपासना में ही लगना उचित है।

लोक में भी न्याययुक्त मार्ग से लक्षपति, कोटिपति, अरबपति आदि बनने में कोई भी आपत्ति नहीं रहती, परन्तु चोरी, डाका या अन्याय से लक्षपति बनने की भावनावाले प्राणी को हवालात की हवा खानी पड़ती है। इसी तरह सन्मार्ग से धनवान् होने में कोई बाधा नहीं है, परन्तु विमार्ग से धनी बनने का प्रयत्न कभी भी इष्ट नहीं होता।

एक पिता के चार पुत्र हैं। पिता ने अपनी सम्पत्ति चारों के लिए बराबर विभक्त कर दी। उनमें से कोई पुरुषार्थ द्वारा बढ़कर कोटिपति बन जाता है और कोई प्रमाद से कौड़ीपति हो जाता है। ऐसी स्थिति में पुनरपि कौड़ीपति का कोटिपति से धन लेकर उसकी बराबरी का प्रयत्न करना सिवा ईर्ष्या के और कुछ भी नहीं।

वस्तुतः धर्म के ह्रास हो जाने पर सर्वदा ही संघर्ष होते हैं और

समाज की अनेक शासनपद्धतियाँ ढूंढनी पड़ती हैं। यह एक तरह का चक्र चल पड़ता है पूंजीपतियों और राजाओं में धर्मभावना की कमी होने से इन्द्रियों पर स्वाधीनता नहीं रह जाती, भोग-विलास में अधिक आसक्ति होने से शरीर एवं इन्द्रियों में निर्बलता आ जाती है। मन और बुद्धि भी उचित संकल्प तथा निर्णय में समर्थ नहीं रह पाते धर्म-बुद्धि की कमी से संयम की भी कमी हो जाती है। सम्पत्ति को भगवान् की धरोहर समझकर जनता के हित में उसका उपयोग न करके अपने भोगों में लगाया जाता है। ऐसी स्थिति से राजा-प्रजा और अमीर-गरीब में मनमुटाव होने लगता है। भोगासक्त होने से निर्बल अमीरों में सन्तानों की कमी होने लगती है। निम्नश्रेणी के अयोग्य जनकों में प्राचीन परम्परा का उद्धारभाव न होने से वे और भी न्याय और संयम की उपेक्षा करके भोगासक्त होते हैं। प्राचीन परम्परा की रक्षा के लिए ही वेन के शरीर को मन्थन करके पृथु के आविर्भाव का प्रयत्न किया गया, किसी दूसरे को शासनसूत्र नहीं दिया गया था।

अस्तु, इस तरह भोगासक्त निर्बल धनपतियों में सन्तानों की कमी और गरीबों में सन्तानों की अधिकता हो जाती है। धर्मविमुख अमीर गरीबों से न्याय-अन्याय का विचार न करके धन संग्रह करते जाते हैं। उधर अधिक सन्तानवाले गरीब भूखों मरते हैं, वस्त्र और मकानों के लिए तरसते हैं। संसार का धन सिमटकर थोड़े से अमीरों के हाथ में आ जाता है। दुनियां का बहुत बड़ा गरीब मानवसमाज अन्न, वस्त्र एवं मकान आदि से विहीन होकर दुःख पाने लगता है। उस समय बड़े लोगों की अश्व, रथ, गज, धन, धान्यादि सुख-सम्पत्तियों को देखकर

समाज में ईर्ष्या फैल जाती है। गरीबी के कारण लोगों में धैर्य छूट जाता है। दरिद्रता एवं दीनता के कारण धर्मभावना कमजोर हो जाती है। आवश्यक जीवननिर्वाहसामग्री न मिलने से चोरी, व्यभिचार की मात्रा भी बढ़ने लगती है। फिर वे सहज धर्मभीरु गरीब भी दूसरों की सम्पत्तियों को छीन लेने के लिए गिरोह बनाकर आन्दोलन करने लग जाते हैं।

धर्मविहीन अमीर यह नहीं समझते कि सम्पत्ति का परमफल यही है कि उससे धर्म, समाज तथा राष्ट्रकी रक्षा की जाय, भूखों एवं दुःखियों का दुःख मिटाया जाय। ग्राम के चारो ओर आग लगने या महामारी फैलने से एक घर सुख की नींद नहीं सो सकता। जब समाज एवं राष्ट्र के लोग भूखों मरते हों, तो एक कोटिपति का सुख खतरे से खाली कदापि नहीं रह सकता। दोनों के संघर्ष में पूंजीवाद और सम्राज्यवाद मिट जाता है और फिर कुछ दिन के लिए साम्यवाद चल पड़ता है। राजा-प्रजा, अमीर-गरीब सब की समानताका प्रयत्न होता है। उसके विरोधियों का सर्वनाश किया जाता है। परन्तु सृष्टि की विचित्रता अनिवार्य है। प्राक्तन धर्म एवं अधर्म की विचित्रता से प्राणियों तथा उनके सुख-दुःख एवं सत्सामग्रियों में भी विचित्रता होती ही है। सब की समान बल, बुद्धि, योग्यता न होने से काम में भेद, फिर दाम और आराम में भी भेद हो ही जाता है। इंजीनियर, मजदूर, न्यायाध्यक्ष, सेनापति, सैनिक आदिकों की विषमताके बिना किसी भी राष्ट्रका शासन, सुव्यवस्थापन, संरक्षण हो ही नहीं सकता। ऐसी स्थिति में सर्वत्र काम, दाम, आराम में भेद हो ही जाता है। फिर निश्चय किया जाता है कि लोकमत के अनुसार योग्य

शासक एवं प्रबन्धक निश्चित किये जाँय और उनके दाम, आराम का भी कुछ अधिक ध्यान रखा जाय और उनका सालभर में या तीन साल में परिवर्तन होता रहे। जो कोई बहुमत से योग्य समझा जाय, उसे शासक या प्रबन्धक बनाया जाय और लोकसम्मत व्यक्ति को ही उच्च पद दिये जांय। बस इसी दृष्टि से इसे लोकतन्त्र, प्रजातन्त्र या किसानों तथा मजदूरों का राज्य कहा जाता है।

कुछ दिनों बाद समाज के विद्वानों को यह समझ में आने लगता है कि अल्पज्ञ लोकमत से योग्य व्यक्ति का निर्णय नहीं होता कुछ प्रचारक, व्याख्याता, प्रवक्ता एवं पत्र-पत्रिकाओं से ही लोकमत बनाया जाता है। लोक का निजी मत क्या है इसका निर्णय नहीं हो पाता। लोक की कोई निश्चित स्थिति नहीं। कभी का लोकमत ईसा जैसे महापुरुषों को फाँसी देने में विश्व का कल्याण समझता है, कभी का लोकमत उनके पूजन में कल्याण समझता है। कभी ईश्वर और धर्म के सम्मान में कल्याण समझा जाता है, कभी का लोकमत उनको काला मुँह करके निकालने की घोषणा करता है। ऐसी स्थिति में लोकमत के आधार पर वास्तविक लोकहित का निर्णय नहीं हो सकता। अतएव चुनावों में राष्ट्र का कितना धनक्षय होता है, कितने ही व्यक्तियों को प्राणों की भी बाजी लगानी पड़ती है। अतः विशेषज्ञों के मत के सामने लोकमत का मूल्य उसी तरह अकिञ्चित्कर है, जैसे रूप के विषय में एक नेत्रवान्के सम्मुख अरबों, खरबों नेत्रविहीनोंका मत अकिञ्चित्कर होता है। यह सोच-समझकर ही कोई व्यक्ति अधिनायक बन बैठता है और वह बारबार चुनाव की पद्धति को मिटाकर कुछ विशेषज्ञों की सम्मति से

भिन्न प्रबन्धकों को नियुक्त करता है। यदि अधिनायक अनुकूल हुआ तब तो ठीक ही है, अन्यथा वह भी बिना नियामक (ईश्वर) की मशीन है। अनियन्त्रित शक्तिसम्पन्न अधिनायकसे राष्ट्र को वैसाही खतरा है, जैसा कि वेन आदि सम्राटों से पूर्वकाल में हुआ था। परन्तु प्रजा की आराधना से यदि वह युक्त हुआ, तब तो अनुरक्त प्रजा उसका सम्मान करती है। अन्त में पुत्र-पौत्रादिपरम्परा का भी राज्य पर अधिकार चल पड़ता है।

सर्वथा धर्मात्मा एवं आस्तिक द्वारा ही विश्व में शान्ति एवं सुव्यवस्था होती है। अतः फिर से जब आस्तिकवाद, ईश्वरवाद समादृत होता है और पक्षपातशून्य अनादि, अपौरुषेय वेदों के अनुसार राजा-प्रजा, अमीर-गरीब सभी अपने अपने धर्मको पालने लगते हैं, तब समाजहित, राष्ट्र हित एवं विश्व के हित की भावना स्वयं बन जाती है। अन्याय, अत्याचार, परोत्पीडन से जब अपने आप ही घृणा उत्पन्न हो जाती है, तब तो फिर सर्वत्र शान्ति ही शान्ति विराजने लगती है। उस स्थिति में अन्यायी एवं अत्याचारी को सताने का भाव नहीं रहता, किन्तु अन्याय, अत्याचार से उसका अहित होगा, इसलिए उसके अन्याय, अत्याचार मिटाने के लिए ही उसे दण्ड दिया जाता है, जिसका फल यह होता है कि संसार में अत्याचार, अन्याय मिट जाता है और दण्ड देने की आवश्यकता नहीं रहती फिर तो दण्ड केवल सन्यासियों के हाथ में ही रह जाता है—'दण्ड यतिन कर भेद जहँ'। तभी सच्ची शान्ति व्यवस्थापित होती है। चराचर जगत् सब कुछ परमेश्वरस्वरूप या सब कुछ परमेश्वर का अंश है इस भावना के बन जाने पर ही सच्चे साम्यवाद

की भी स्थिति होती है। हां, केवल व्याख्यान में कहने की बात न हो, हो मन की सच्ची भावना। आस्तिकवाद होने से ही प्रजा का न्यायपूर्वक नियन्त्रण हो सकता है, अन्यथा कैसा भी शासनविधान क्यों न हो, उसके कार्यान्वित करने में गड़बड़ी हो ही सकती है।

राजकीय कर्मचारी कहांतक किसके पिछे रहकर नियन्त्रण कर सकेंगे ? फिर धर्मभावना न रहनेपर राजकीय कर्मचारियोंके भी न्यायान्याय देखने के लिए पृथक् पृथक् पुरुषों को नियुक्त करना पड़ेगा, फिर उनके नियन्त्रण के लिए भी इसी तरह व्यवस्था करनी पड़ेगी। यदि कहीं भी आस्तिकता न होगी, तो किसी भी अभियोग का सच्चा साक्षी ही न मिल सकेगा। न्यायाध्यक्ष साक्षी को धर्म की याद दिलाकर उससे कहता है— 'यमो वैवस्वतो राजा हृदि सर्वस्य धिष्ठितः। तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरून् गमः'। वैवस्वत राजा यम सबके हृदयमें विराजमान हैं, यदि उनके साथ विवाद न हो अर्थात् प्राणी उनकी ओर से सच्चा हो, तो उसे गङ्गा और कुरुक्षेत्र जाने की आवश्यकता नहीं रहती। अभिप्राय यह है कि साक्षी को न्यायाध्यक्ष के सामने सच्चाई के साथ ही बोलना चाहिये। तस्मात् यह स्पष्ट है कि आस्तिकवाद से ही विश्व में शान्ति, सुव्यवस्था एवं न्याय की स्थापना हो सकती है। अमीर-गरीब, राजा-प्रजा सभी अपना कर्तव्यपालन भी तभी दत्तचित्त होकर कर सकते हैं और आस्तिकवाद में ही सन्तुष्ट रह सकते हैं। (मा० सन्मार्ग ३।७)।

———

प्राणी की गति और आगति

उत्कृष्ट से उत्कृष्ट आचार्य द्वारा ब्रह्मतत्त्व का उपदेश पाकर भी अविरक्त प्राणी कृतार्थ नहीं होता। अतएव सम्पूर्ण साधनों में वैराग्य ही परम साधन है। जन्म-जन्मान्तर के पुण्यपुञ्जों और महेश्वर की मङ्गलमयी अनुकम्पा से ही विचार द्वारा शुद्ध वैराग्य का उदय होता है।

उपनिषदों के भावानुसार यदि जीवात्मा की गति-आगति पर विचार किया जाय, तो मालूम होगा कि अग्निहोत्रियों द्वारा दी गयी आहुति के सूक्ष्मांश से युक्त लिङ्गशरीरावच्छिन्न आत्मा स्वर्ग जाता है। अग्नि-धूमादि द्वारा स्वर्ग पहुँचकर और सोमात्मक शरीर प्राप्तकर, वह सत्कर्मानुसार इच्छामय नन्दनवन, कल्पवृक्ष, कामधेनु, माल, चन्दन, दिव्यशय्या, वनिता, भोजन-पानादि प्राप्त करता है। वहाँ चान्द्रमस या सोमात्मक ही उसका शरीर होता है। स्वर्गफल भोगने के बाद स्वर्ग-सुख की समाप्ति का सन्देश सुनकर उसका सोमात्मक शरीर शोक-ताप से वैसे ही द्रवीभूत हो जाता है, जैसे आतप से बर्फ। फिर वह स्वर्ग से प्रच्युत होकर पर्जन्य बनता और पर्जन्य से वृष्टि द्वारा भूमि में आकर व्रीहि, यवादि अन्न बनकर पुरुष के देह में जाकर रेत होकर मातृगर्भ में प्रविष्ट होता है। पापी प्राणी भी नरकादि नानाविध यातनाओं को भोगकर नानायोनियों को प्राप्त करने के लिए अन्नादि में संश्लिष्ट होते हैं।

जिस प्रकार रज्जु से बंधा हुआ घट कूप में प्रवेश करता है, उसी

प्रकार पाप-पुण्यमय कर्मों से बद्ध जन्तु पिता के देह में प्रवेश करता है। राजपुरुषों द्वारा जैसे अपराधी लौहमयी हथकड़ी-बेड़ी आदि शृंखलाओं से बांधकर कारागार में डाल दिया जाता और वह धन-धान्य एवं बन्धुओं से विहीनकर दिया जाता है, वैसे ही कर्ममयी शृंखलाओं द्वारा नियन्त्रित जन्तु धन-धान्य तथा बन्धुबान्धवों से रहित होकर विवशता के साथ पिता के शरीर में प्रवेश करता है। पिता का शरीर उसे अन्धकूप के समान ही प्रतीत होता है। सांपों के सदृश अत्यन्त भयंकर कीटगणों से आवृत वह जीवन जठराग्नि से दन्दह्यमान होकर उसी प्रकार दुःखी होता है, जिस प्रकार राजपुरुषों द्वारा कारागार में अपराधी। पिता का प्राण उसका सम्यक शोषण करता है। जैसे किसी महापर्वत में निपतित अणु एवं दुर्बल प्राणी को भयंकर झञ्झावात से दुःख होता है, वैसे ही पिता के देह में पड़े हुए निर्बल जन्तु को पिता के प्राणों द्वारा उद्वेग होता है। क्षुधा, पिपासा से व्याप्त पिता के शरीर में मुख द्वारा जीव को अन्नरूप से जाना पड़ता है। इसके पहले भी पर्जन्य से जल, जल से अन्न बनने में बड़ी कठिनाइयां होती हैं। कभी-कभी अन्नोत्पादन के अयोग्य पाषाणादिमय भूप्रदेशों में निपतित होने से उसे अन्नभाव प्राप्त नहीं होता। उस समय पुनः सूर्यरश्मियों द्वारा सूर्यमण्डल में जाकर पर्जन्य आदि क्रम से उसे जलभाव की प्राप्ति होती है। अन्न बन जाने पर भी सन्यासी, ब्रह्मचारी, नपुंसक तथा विधवा के मुख में जाने पर देहप्राप्ति दुर्लभ होती है। इसीलिए श्रुतियों ने जल, अन्न, रेत आदि भाव से आत्मा का निकलना बड़ा दुस्तर कहा है। अस्तु, अन्न बनने में भी आतप, वात, कण्डन, पेषण, अग्निपाक द्वारा अन्नसंश्लिष्ट जीवात्मा को अत्यन्त कष्ट होता है।

रस, रक्त, वीर्यादिसम्पत्ति में उसे अनन्त अपार कष्टों का सामना करना पड़ता है। इस अवस्था में एक प्रकार से काल ही पिता होता है और लौकिक पिता माता होता है। मुख ही योनि और क्षुधा-पिपासा ही गर्भधारणेच्छा होती है। काल और पिता के सम्बन्ध से ही अन्नभावापन्न जीवात्मा पितृरूप माता के गर्भ में प्रवेश करता है। इसीलिए गर्भ-दुःख के समान ही पिता के शरीर में जीवात्मा को दुःख होता है। अन्न-भावापन्न जीवात्मा के अङ्ग-प्रत्यङ्ग पहले पिता के मुख में जाकर दन्तों के द्वारा विघूर्णित होते और मुख-गन्ध से उसके प्राण व्याकुल हो जाते हैं। अन्ततः वह किसी तरह पिता के कण्ठ में पहुँचता है। कण्ठ में श्लेष्मा से आविल संकीर्ण मार्ग में पहुँचकर वह व्याकुल हो जाता है। शक्ति न होने से अत्यन्त दुःखित जन्तु क्षुद्र कीट के समान वैसी चेष्टा करता है, जैसे गरुड के मुख में पहुँचकर छूटने की इच्छा से मछलियाँ छटपटाती हैं। कण्ठ से छुटकारा पाना योनियन्त्र से निकलने के समान होता है। कण्ठ से छुटकारा पाकर वह निष्ठारस के समान आकारवाले पित्त से युक्त हृदय में जाता है। जैसे कोई व्यक्ति त्वचा निकालकर अत्यन्त तप्त तैल में डाल देने से कष्टी हो, वैसे ही श्लेष्माशय कण्ठ से विमुक्त होकर पित्ताशय हृदय में पड़ने से जन्तु दुःखी होता है। पित्त एवं प्राणाग्नि के सन्ताप से तप्त अन्नभावापन्न जीवात्मा मर्कट के समान भागा भागा फिरता है। पित्त के साथ ही वह कभी ऊपर, कभी नीचे तो कभी तिर्यक् भटकता है जैसे तप्त तेल में पड़े हुए जल की स्थिति होती है, वैसी ही पित्ताशय में स्थित जन्तु की दशा होती है। पित्ताशय के अनन्तर पुनः मारुत में गमन होता है। वायु के द्वारा इस अन्न का विकिरण होकर

जाठराग्नि में निपात होता है। पुरीतति नाड़ी रूप दुर्गमध्य में स्थित हो कर पुनः वह नाभिरूप पर्वत पर आरूढ़ होता है। जैसे बसूला आदि द्वारा अङ्ग-प्रत्यङ्ग के छिन्न-भिन्न होने पर प्राणी विह्वल होता है, वैसे ही इस अवस्था में प्राणी दुःखी होता है। महा झञ्झावात में पड़ने से नगण्य तृण की जो दशा होती है, वाताशय में जाने से जन्तु की भी वही दशा होती है। वह वात (वायु) अग्नि के समान अत्यन्त उष्णस्पर्श और अत्यन्त रूक्ष होता है।

कुछ काल वाताशय में स्थित होकर फिर उसका पाक के लिए जाठराग्नि में सन्निवेश होता है। उस जाठराग्नि में अत्यन्त पाचित होने पर भी वह मरता नहीं। पाक के पश्चात् उस आत्म संश्लिष्ट अन्न के उत्तम, मध्यम और अधम तीन भाग होते हैं। अधम भाग पुरीष बन जाता और मध्यम भाग त्वचा, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा आदि रूप को प्राप्त होता है। एक एक रूप को प्राप्त करने में बड़ी कठिनाई होती है। पहले अन्नरस बनकर समान प्राण के अनुग्रह से उसका सूक्ष्मातिसूक्ष्म नाड़ियों में प्रवेश होता है। केशाग्र के शतभाग से भी अत्यन्त सूक्ष्म सहस्रों नाड़ियां देह में हैं। अन्नरस बनकर उन नाड़ियों द्वारा सम्पूर्ण देह-व्यापी त्वचा में उस अन्नरस का सञ्चार होता है। इस एक एक अवस्था में अत्यन्त दुस्तर दुःख होता है। नाड़ियों में प्रवेश और उनसे निर्गम, त्वचाओं में पहुँचना आदि एक एक अवस्था मरण के समानदुःखदायिनी है। त्वचा से पुनः रक्तभाव की प्राप्ति होती है। लाक्षारस के समान रक्त ऐसा भयावह होता है कि बहुत से जीवों को उसके दर्शनमात्र से मूर्च्छा आ जाती है। यही रक्त घनीभूत होकर शाल्मली-कुसुम के समान मांस

बन जाता है। पश्चात् मेद बनता है। बुद्धि और प्राण के सम्पर्क से मांस द्वारा घृत के समान उत्पन्न होनेवाला तत्त्व मेद है। उस मेद के द्वारा शरीरगृह के स्तम्भभूत अनेक अस्थियां उत्पन्न होती हैं। अस्थियों के भीतर सारभूत मज्जा बनती है। जिस समय पिता का शरीर कामवह्नि से सन्तप्त होता है, उस समय शरीरव्यापिनी मज्जा अपने सारभूत तत्त्व शुक्र का त्याग करती है। मस्तक से लेकर पादतलपर्यन्त अंग-प्रत्यंग से मज्जा-रस निकलता है। वह इतना उल्वण और दुस्सह होता है कि उसे पिता सहन नहीं कर सकता। गर्भधारण के दसवें मास में गर्भिणी के लिए गर्भ जिस तरह दुस्सह होता है, उसी तरह मज्जासाररूप पिता का गर्भ भी उसके लिए दुस्सह हो जाता है। जैसे आर्द्र वनस्पति अपने कोटर में अग्नि की सत्ता सहन नहीं कर सकता, वैसे ही जनक उस गर्भ को सहन नहीं कर सकता। जिस तरह शत्रुकृत अभिचार से मन चंचल हो उठता है, उसी तरह कामाग्नि के ताप से पुरुष का मन चंचल हो जाता है। वही मज्जा-रस 'रेत' या कामाग्नि है।

वह रेतस् पारदरस के समान चंचल होने से कहीं भी स्थिर नहीं रहता जिस तरह विष आदि द्वारा श्लेष्मा के उद्रेक से कटुनिम्ब भी मधुर प्रतीत होता है, उसी तरह कामोद्रेक से नारीदेह में सुख प्रतीत होता है। जैसे भंगापान या मदिराब्धि-पान से उन्मत्त मन में स्वादरहित पदार्थ में भी स्वाद भासित होता है, वैसे ही निकृष्ट वस्तु में भी उत्कृष्टता का भान होता है। दुर्गन्धयुक्त श्लेष्मा, थूत्कार और लालादि से पूर्ण नारीमुख में कामी को चन्द्रमा का भान होता है। मलपूर्ण नेत्रों में कमलदल की प्रतीति होती है। नरक-समूह में ले जानेवाले नेत्रों के कटाक्ष फूल के समान

प्रतीत होते हैं। श्लेष्मा के मार्ग नासिका में भी कामी को मधुरता ही प्रतीत होती है पायु के समान अधर भी कामी को मधुर ही प्रतीत होते है। तम के समान वेश आनन्दकारी एवं मांसग्रन्थि स्तन में अमृतपूरित हेमकुम्भ की कल्पना होती है। मांसला या निर्मांस उदर श्वशूकर-उदर के समान विष्टा-मूत्र का आलय है। फिर भी वह कामप्रेत से आर्त कामुक के आनन्द का कारण होता है। इसी तरह पायुरूप नदी के तट स्वरूप विष्ठादि से अनुलेपित नितम्ब तथा जघन रक्त-मांसमय होने पर भी कामी को रम्य प्रतीत होते हैं। भगन्दरव्रण के समान मूत्रगन्ध से दूषित योनि प्राणी के लिए स्वर्ग के सदृश प्रतीत होती है। इसी तरह कामी को अपने ही कामदोष से नारी के उरू आदिकों में स्वर्ण रम्भास्तम्भ की प्रतीति होती है। जैसे पुरुष को नारी में वैसे ही नारी को पुरुष में रम्यता, मधुरता प्रतीत होती है।

इस तरह कामाग्निजन्य पित्त के कुपित होने पर कामी धर्म, अधर्म दिन-रात कुछ भी नहीं जानता। सुहृद्, मित्र आदिकों को देखता-सुनता हुआ भी अन्ध और बधिर हो जाता है घ्राण से दुर्गन्ध का अनुभव करता हुआ भी घ्राणरोगी के समान कुछ नहीं जानता। पण्डित भी जड़ हो जाता है। पाद-पाणिमान् होने पर भी कुणी और पंगु के समान हो जाता है। सप्राण भी मृतवत्, भूतिमान भी दरिद्रवत्, प्रभु होकर भी काम के कारण भृत्यवत् हो जाता है। बुद्धिमान् भी दुर्बुद्धि, सुमना भी निर्मना, साहंकार भी निरहंकारवत् हो जाता है। वीर्यरूप गर्भ को धारण करनेवाला, कामज्वर के वशीभूत नर इस प्रकार की विगर्हित शोच्यतम अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

कामाविष्ट नर नेत्रों से ललना का ही पान करता है, कानों से उसी को सुनता है, घ्राण से उसी को सूंघता है, रसना से उसी का रसास्वादन करता है, त्वचा से आदरपूर्वक उसी का स्पर्श करता हुआ सुखकरी वाणी बोलता है। देवता और गुरु के समान उसी का अनुगमन करता है। मन में इष्टदेवता के समान उसी का स्मरण और बुद्धि से भी उसी का ध्यान करता है। विष्णु के समान चित्त से उसी का चिन्तन करता है। योगारुरुक्षु विशुद्धबुद्धि ज्ञानी के समान उसी को अपनी आत्मा भी मानने लगता है। अपमानित होकर भी उसका ही सम्मान करता है। वह स्त्री क्रीड़ा मृग के समान उस कामुक को दीन बन्दर की तरह नचाती है। कभी विविध उपचारों से उसका सम्मान करती है, तो कभी दुस्सह कटु वचनों से उसकी भर्त्सना भी करती है। कभी कहती है— नाथ आप हमारे देह, प्राण सब से अधिक प्रिय हैं।' कभी कहती है — 'तुम मेरे कौन हो ?' कभी आज्ञापालन करती तो कभी वचन की रत्तीभर भी परवाह नहीं करती। कोई कोई पुरुषान्तर से आसक्त होकर सोते समय पति को यमपुर पहुंचा देती है। इसी तरह कोई अपने प्रतिकूल पुरुषों को मरवा भी देती है। अच्छे अच्छे पुरुषों को भी बड़ी बड़ी भरी सभाओं में नारी उपहासास्पद बना देती है। पिता, भ्राता, पुत्र तथा बहुज्ञ ब्राह्मण को भी स्वल्प कारण से मार देती है। नारी के सङ्ग से इस जन्म में निश्चित दुःख और परलोक में नरक होता है। आसक्त नारी यदि स्वकीया है, तो अन्य स्त्रीसमागमादि से कुपित होकर विषादि द्वारा वह पति को मार देती है। यदि परकीया है, तो उसके पति या भ्राता आदि द्वारा जार का मरण सम्भव है। यदि विरक्त स्वकीया नारी है, तो कामज्वर से आतुर कामुक की

भर्त्सना या उपेक्षा करके हनन करती है या पुरुषान्तरगमन द्वारा दुःख का कारण बनती है। यदि परकीया है, तो बलवान पति या अन्य द्वारा मरवा देती है। इस तरह स्वकीया, परकीया, आसक्त, विरक्ता सब तरह की नारियों में महान् दोष है। जैसे कामी पुरुष के लिये स्त्री दुःखकारी है, वैसे ही कामिनी नारी के लिये पुरुष भी दुःखकर है।

वस्तुतः काम ही दुःखकर है, नर-नारी कोई भी किसी के दुःख का कारण नहीं है ऐसा समझकर बुद्धिमान को इस काम शत्रु का शीघ्र ही परित्याग करना चाहिए। संकल्प से काम उत्पन्न होता है और गुणबोध से संकल्प। दोषों के ज्ञान से गुणबोध का नाश होता है। तभी संकल्पनाश और कामविजय हो सकता है। अतत्त्व में 'तत्त्वबुद्धि' रूप मोह के कारण ही जगत् में अन्धकार फैल जाता है। उसी से विभिन्न कामनाएँ और तृष्णाएँ उत्पन्न होती है। उस मोह के नष्ट होने पर निर्मूल पादप के समान काम क्षण में ही नष्ट हो जाता है। काम के नष्ट होने पर क्रोध भी नष्ट हो जाता है। काम या इच्छा का विघात होने पर ही द्वेष या क्रोध उत्पन्न होता है। इच्छा न रहने से क्रोध की उत्पत्ति का कोई कारण नहीं रह जाता। विवेकरूप वह्नि के काम क्रोध के समूल नष्ट होने पर आनन्दात्मा भगवान् प्रसन्न होते हैं। विवेकियों का कहना है कि, हे काम, मैं तेरे मूल को जानता हूँ। तुम संकल्प से उत्पन्न हो होते, संकल्प के त्याग देने पर तुम मुझ में न हो सकोगे'।

उपर्युक्त विज्ञान से रहित, कामरूपी पिशाच से व्याकुल, सर्पदष्ट के समान प्राणी कुछ भी नहीं जानता। कामरूप ग्रह के आवेशवश उप-स्थप सर्प के भक्षण से रेतस्स्वरूप गर्भधारण के खेद से पितारूप गर्भी

उस रेतोरूप गर्भ का त्याग करना चाहता है। अङ्ग-प्रत्यङ्ग से निकला हुआ वह रेत दुग्ध से निर्गत मक्खन के समान सर्वशरीर का सार है उसे धारण करने में असमर्थ वह (पुरुष) उसका नारीयोनि में त्याग करता है। जिस तरह भार से आतुर जन्तु भारत्याग से सुखी होता है, उसी तरह गर्भ त्याग से गर्भी सुखी होता है। ग्रह से आविष्ट जन्तु जैसे ग्रहनिर्गम से सुखी होता है, वैसे ही गर्भत्याग से प्राणी सुखी होता है अजीर्ण भोजन जिस तरह प्राणान्त आपदाओं को उत्पन्न करके निकलता है, उसी तरह रेत भी सम्पूर्ण बल को क्षीण करके निकलता है। जैसे अति सार प्राणी के सर्वतेज का अपहारक होता है, वैसे ही रेतोनिर्गम भी बल तथा वीर्य का अपहारक होता है।

शरीर में रेत रहने पर उसी से 'ओज' नाम की 'अष्टमी अवस्था' उत्पन्न होती है, जिस ओज के द्वारा प्राणी तेजस्वी और दीर्घजीवी होता है। रेत के सम्यक् अवरोध से वैरूपकारिणी जरा और मृत्यु पर विजय मिलती है, तब बल शीघ्र नष्ट नहीं होता, ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है, इहलोक परलोक में कीर्ति होती है। रेत के अवरोध से योगाभ्यास द्वारा आकाश-गमनादि दिव्य सिद्धियाँ भी अनायास मिलती है।

जिस तरह यन्त्र में निपीड़ित इक्षु दण्ड निस्सार हो जाता है, उसी तरह वधूबाहु निपीड़ित पुरुष भी निस्सार हो जाता है। आत्मा के अप्रागल्भ्य के कारण आयु और बल के हेतु तेज को मायामोहित मूढ स्त्री में त्याग करता है। इस तरह योनि में रेत त्याग ही जीवात्मा का प्रथम जन्म है।

योनिगत गर्भ की नानाविध अवस्थाएँ अनन्त दुःख और शोक का कारण होती हैं। पुरुष के गर्भ को स्त्री स्वयं धारण करती है, इसलिए उसका नानाविध उपचारों से सत्कार करना चाहिए। पुरुष के दुःखदायी रेतस्वरूप गर्भ को अपने में धारण करके यह पुरुष का परम उपकार करती है। गर्भरूप से गर्भी का ही स्त्री में प्रवेश होता है, अतएव 'जाया' पुरुष की जननी भी कहलाती है — जायते पुत्ररूपेण पुमान् अस्यां सा जाया'। गर्भिणी जिस गर्भाधानकाल से लेकर अपने आर्तव रज के साथ एकता को प्राप्त रेत को अपने देह के समान ही धारण करती है, वह जीवात्मा कीट' विष्ठा आदि जठर में अत्यन्त दुःखों को भोगकर योनि द्वारा पुनः बाहर आता है। इन्हीं सब अनन्त दुःखों से छुटकारा पाने के लिए ब्रह्मज्ञान की इच्छा की जाती है' सावधान होकर शास्त्रोक्त धर्म का अनुष्ठान किया जाता है। मरण में तथा विभिन्न नरकों के उपभोग में जो दुःख प्रसिद्ध है, उससे कोटि-कोटि-गुणित दुःख योनि यन्त्र में होता है। योनि में प्रवेश और उससे निर्गम में मरण-दुःख से सहस्त्रों गुना अधिक दुःख होता है माता के उदर में निवास नरक से अधिक भयावह है।

गर्भवास के अनन्तागत दुःखों का वर्णन भी रोमाञ्चकारी है योनि यए माता का उदर एक प्रकार से विष्ठा और मूत्र का आलय है। दौर्गन्ध्ययुक्त पूय और रक्त से वह गृह लिप्त है। कफ, पित्त आदि विविध रङ्गवाले धातुओं से चित्रित है। मांसमयी ही उस गृह की भित्ति है। अनियमित कीटरूप सर्पों से आकीर्ण तथा विविध व्याधिरूप बिच्छुओं से वह भरपूर घिरा है माता के प्राणरूप महावायु से विविध नाड़ीरूप रज्जुओं का

बन्धन लगा । उस गृह में अवकाश अत्यन्त संकीर्ण है। वह भी अन्तर्वह्नि से दग्धप्राय है। विवेकी लोग कहा करते हैं कि मल-मूत्र-रुधिरादि-परिपूर्ण और ऊपर तथा नीचे भी अग्नि से दन्दह्यमान पात्र में पड़े हुए व्याकुल कीट की जो अवस्था होती है, वही स्थिति गर्भवासी जीव की होती है। कोई-कोई जातिस्मर योगीलोग गर्भ की दुस्सह वेदनाओं को स्पष्टरूप से स्मरण करते हैं। गर्भवास के अनन्त दुःखों का वर्णन अशक्य है। अज्ञान, असामर्थ्य, क्षुधा, पिपासा और अनेक जन्मों के दुःखों की स्मृति गर्भवासी जीव को अधिक त्रस्त करती है।

गर्भ में जाकर रज और रेत के सम्पर्क से कलल, मांस, ग्रन्थि, शिर आदि विभिन्न अवयवों के बन जाने पर प्रसूतिवायु के द्वारा गर्भासन और जरायुपट का त्याग होता है। मेढ़क के समान, इतस्ततः हाथ, पैर और गात्र के संचालन से बालक मानोमाता के पेट को फाड़ने का प्रयत्न करता है। कभी कुक्षि, कभी हृदय तो कभी योनियन्त्र की ओर बन्दर के सदृश भटकता हुआ गर्भ-शिशु माता को कष्ट पहुँचाता है सर्प से ग्रस्त मेढक के समान दुःखी जन्तु प्रसूतिमारुत द्वारा बाहर लाया जाता है। आरा से भी सहस्रगुणित कर्कश और स्वल्प छिद्रवाले योनियन्त्र से निकलने में जीव को बड़ा ही दुःख होता है। कीटयुक्त भयंकर व्रण में जैसी व्यथा होती है, बालक के योनियन्त्र से आने से माता को भी उसी प्रकार का कष्ट होता है। पेट के व्रण में जैसे संपर्क रहने से कष्ट होता है, वैसे ही पेट में गर्भ रहने से माता को कष्ट होता है। सड़े दुर्गन्धित व्रणको फाड़कर सर्प को निकलने से जैसे सुख होता है, वैसे ही शिशु का जन्म होने से माता को सुख होता है। मल-मूत्र के अवरोध से जैसे पुरुषों

को दुःख होता है, वैसे ही गर्भधारण से स्त्रियों को दुःख होता है। इसी प्रकार पुरुषों को मल-मूत्र के विसर्ग में जो आनन्द होता है, वही माता को गर्भ का प्रसव कर देने पर होता है। बीस अंगुल का लम्बा और वितस्ति-परिमाण का चौड़ा जीता हुआ कीड़ा पुरुष के पेट में रहने से जितना कष्ट उसे हो, उतना कष्ट गर्भवती स्त्री को होता है। वही कीट पुरुष के पायुमार्ग से निकलने पर उसे जितना भयंकर कष्ट हो सकता है, उतना ही स्त्री को होता है। षोड़श अंगुल छिद्रवाले गोल आरा से निकलने पर हमलोगों को जैसे कष्ट हो, वैसा ही कष्ट योनियन्त्र के निकलने में शीशु को होता है।

इस प्रकार उत्पन्न सन्तान का पिता जातकर्म आदि संस्कार करता है, उससे वंश-विस्तार और स्वर्ग की प्राप्ति की इच्छा करता है। यह इस जीव का दूसरा जन्म है। फिर भी यह मनुष्य-जन्म अन्य जन्मों से बहुत ही दुर्लभ है। देवता भी इस मनुष्य-जन्म की आकांक्षा रखते हैं। भारत वर्ष, तत्रापि वैदक कर्म का अधिकारी द्विजाति-जन्म अत्यन्त ही दुर्लभ है। इसके द्वारा ही अचिकित्स्य भवरोग की चिकित्सा की जाती है। इच्छा, द्वेष, भय, मोह, क्षुधा, पिपासा, निद्रा, विट्मूत्र बाधा ये आठ दोष देहियों के लिए अचिकित्स्य हैं। सात्विक लोग मोक्ष की इच्छा करते हैं, राजस लोग मोक्ष के साथ-साथ विषय की भी इच्छा करते हैं और तामस व्यक्ति केवल विषय की ही इच्छा करते हैं, परन्तु इच्छा-शून्य कोई भी नहीं है। सात्विक पुरुष विषयों से द्वेष करता है, राजस वैरी से भी और तामस केवल वैरी से द्वेष करता है। सात्विक मोह से डरता है, राजस यम से भी और तामस केवल राजादि से ही। सात्विक

को आत्मा का अज्ञान, राजस को विद्यादि का अज्ञान और तामस को सर्वत्र अज्ञान रहता है। क्षुधा, तृषा, निद्रा आदि सभी को होते हैं। ब्रह्म-विज्ञान के बिना इस अनर्थ परम्परा से छुटकारा नहीं है, विशेषकर मानुष-जन्म इसी के लिए है।

उत्पन्न होते ही बालक दूध चाहने लगता है, नाना प्रकार का शब्द करता हुआ धरणीतल में पड़ा रहता है। जैसे जीव गर्भ मे अंगादि चालन में स्वतन्त्र नहीं, वैसे ही बाल्यावस्था में भी वह मत्कुण मशकादि के निवारण में असमर्थ रहता है। शरीर में खर्जु होने (खुजलाने) और उसके निवारण में असमर्थ होने पर वह रोने लगता है, इच्छानुसार अन्न-पानादि भी प्राप्त नहीं कर सकता। वह कण्ठ के अस्पष्ट रहने से बोलता हुआ भी स्पष्ट नहीं बोल सकता, दुःखी होकर केवल जोर से 'माँ माँ' पुकारता है। माता कभी शब्द सुनकर आती है तो कभी कार्यान्तर-व्यासक्त होने से नहीं भी आती। बालक के शरीर में विष्ठा, मूत्र, लाला आदि लगे रहते हैं। माता कभी उसे धो-धाकर साफ कर देती है तो कभी नहीं भी कर पाती। वह बालक कभी व्यर्थ हो हंसता तो कभी व्यर्थ ही रोता भी है। मूढ़ता से विष्ठादि भी खा जाता है। बोलने-चलने या किसी वस्तु को लेने की इच्छा करता हुआ भी वह असामर्थ्यवश खिन्न होता है। वह माता, पिता, भ्राता आदि को मोहवश राक्षस तथा पिशाच समझता है।

इस तरह अनन्त कष्टों को भोगकर वह जीव हस्त तथा जंघा के बल पर चलने लगता है और कुछ बोलने भी लगता है। वह श्वान की तरह सबसे शंकित तथा भीत रहता है। कुछ काल में पैरों से चलने

लगता है और बहुत चंचल हो जाता है। फिर वह कुछ बोलने लगता है, किन्तु हिताहित नहीं जानता। माता, पिता, बन्धु तथा हितकारी अन्य बालक भी उसे डांटते मारते हैं। वह श्वानके समान व्यर्थ ही इधर-उधर भटकता है। उन्मत्त के समान चाहे जो बोलता और चाहे जो वस्तु उठा लेता है। वह धूलिधूसरित होकर परिश्रम से थक जाता है। व्यर्थ ही किन्हीं बालकों से प्रेम या बैर कर लेता है। घर में अनुपस्थित वस्तु मांग बैठता है। राजा के समान निश्चिन्तता से उच्च वस्तु की आकांक्षा करता है। उसके न मिलने पर खाता नहीं और रोने लगता है। इस तरह कौमार-अवस्था में नानाविध दुःखों का अनुभव करके वह प्राणी कोटि-कोटि दुःखों की खान यौवनावस्था को प्राप्त होता है।

यौवनावस्था भी स्त्री-पुरुषभेद से अनेक दुःखों का कारण होती है। युवती स्त्री को पति आदि से भय रहता है। पराधीनता तथा विविध कार्यव्यग्रता हर समय शिर पर चढ़ी रहती है जैसे कामी पुरुषों को वधू की इच्छा होती है, वैसे ही वधूजन को कामी की इच्छा होती है। किन्तु पति आदिकों तथा कुलधर्मलोक के भय से निरुद्ध होकर वे स्त्रीजन शृंखलाबद्ध काल व्यतीत करते हैं पुरुषों की अप्राप्ति, प्राप्त पुरुषों की अनिच्छा और पुत्र की इच्छा से गर्भ-धारण द्वारा युवती नारी दुःखार्णव में गिरती है। इसी तरह युवक पुरुष को भी—शास्त्रज्ञ हुआ तो यम आदि का भय पिता आदि का भय—और मूढ़ हुआ तो—राजा आदिकों का भय बना रहता है धन आदि के न रहने से पराधीनता रहती है। वधू की अप्राप्ति या प्राप्ति में भी विविध कष्ट होते हैं। कुल, विद्या, धन और यौवन ये प्राणी को उन्मत्त बना देते हैं। यौवनज्वर-

पीड़ित प्राणी कभी गाता, बकता, हंसता, पितृतुल्य पुरुषों का भी अपमान करता, उनसे लड़ता, ताल ठोकता, चिल्लाता, नाचता और दौड़ता रहता है। वह दुर्दान्त अहंकारी होकर निःश्वास लेता है। कार्याकार्य-ज्ञानशून्य, वधूजनपराधीन वह विलासार्थ दूसरों के धनापहार की भी इच्छा करता है।

शास्त्रविरुद्ध आचरण, गृह, क्षेत्र, कलत्र आदि में आसक्त युवकरूप मण्डूक पर शीघ्र ही कालसर्प का आक्रमण होता है। चिन्ता से आवृत दुःखाकर युवक पर शीघ्र ही (श्वितृणी) उज्ज्वल कुष्ठिन जरापिशाची का आक्रमण होता है। वह उसके संगम से श्वेत हो जाता है। शक्तिहीन और कुरूप, दुःख-शोक से समावृत वृद्ध पुरुष विस्मरणशील हो जाता है। लोग उसका अपमान करने लगते हैं कास, श्वास का भी प्रकोप हो जाता है आहार-विहार के वैषम्य से, विलासी जीवन व्यतीत करने तथा जन्म जन्मान्तर के उच्चावच विविध पातकों के कारण उसे ऐसे-ऐसे भयंकर रोग उत्पन्न होते हैं, जिनके देखने और स्मरण करनेमात्र से घोर त्रास होता है। डाक्टर, वैद्यों के चिकित्सालयों में जाकर वहां का वातावरण देखने और आयुर्वेदोक्त व्याधियों के श्रवण से भी प्राणी का चित्त उद्विग्न हो उठता है। वृद्धावस्था में प्राणी यौवनकाल के अपने सुकृत-दुष्कृतों को याद करता है और अपनी अन्तरात्मा को कोसता है कि 'मैंने कितने भयंकर-भयंकर पाप किये हैं? उनका फल क्या क्या भोगना पड़ेगा?' पुत्र-पौत्रादि भी वृद्ध का आदर नहीं करते। जब विद्वान् और धनवान् वृद्ध की भी ऐसी स्थिति होती है, तब मूर्ख और निर्धन के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या? प्राणी बाल्यकाल में जिस

अवस्था को प्राप्त हुआ था, वृद्धावस्था में ठीक उसी में पुनरावर्तन करता है। विशेषता यह है कि बाल्यकाल में शक्ति-हीन, मल मूत्रादि से लिप्त बालक को देखकर लोग निन्दा या घृणा नहीं करते। किन्तु तामस, शक्तिहीन, मल-मूत्रादिसमावृत, नासिकामल मक्षिकाक्रान्त, दन्तविहीन, प्रकम्पित वृद्ध को देखकर लोग घृणा और निन्दा भी करने लगते हैं। विषय की अप्राप्ति तथा असामर्थ्य के कारण भी वृद्ध में इच्छा बहुत होती है, स्वजन के प्रति स्नेह और दुर्जन के प्रति विद्वेष भी बढ़ जाते हैं।

यौवनकाल में नानाविध पुण्यों से अपने ही प्रतीपदेहस्वरूप पुत्र को उत्पन्न किया था। इस वृद्धावस्था में वह अपने द्वारा असम्पादित या अर्धसम्पादित यज्ञ, भूतसुखादि का सम्पादन करने के लिए उसी पुत्र को अपना प्रतिभू (प्रतिनिधि) बनाकर परलोकयात्रा के लिए सूक्ष्मदेहरूप रथ प्रस्तुत करता है। पुण्य और पाप ही उस (रथ) के चक्र और दुःख ही पाथेय होता है। प्राण ही पुष्ट घोड़े होते हैं। बुद्धिरूप काष्ठ से ही वह रथ निर्मित है। कास, श्वास, हिक्का आदि द्वारा अपार दुःखों को भोगकर, मोहित होकर वह दुःखाकर शरीर को छोड़ना चाहता है। उस समय भी दुःखी होकर वह जीव पुत्र, कलत्र आदि का स्मरण करता है। मरण के उद्वेग से उसे महान् त्रास और कम्प होने लगता है। बन्धु-बान्धव भी चारों ओर से हिंसास्थान में एकत्र पशुओं की तरह विविध वार्ता करने लगते हैं। बहत्तर हजार बिच्छुओं के एककालावच्छेदेन काटने और डंक मारने से जितना दुःख होता है, उतना ही दुःख मुमूर्षु को देहत्याग में होता है। हाथ-पैर पटकते, मूर्च्छित, मरणासन्न प्राणी को

देखकर स्वजनजन वैसा ही शोक करते हैं, जैसा आतुर काक को देखकर दूसरे काक। ग्राम शूकर के समान घुरघुराते हुए प्राणी को मृत्युरूप व्याध बांधकर अत्यन्त दूर देश में ले जाता है। कालपाश से बंधा हुआ प्राणी जालबद्ध कपोत के समान अत्यन्त दीन हो जाता है। बड़िश- (मछली मारने की वंशी में लगे हुए मांस के) भक्षणार्थ आयी मछली को जैसे उग्रबुद्धि धीवर पकड़ लेता है, वैसे ही पुत्र, क्षेत्र आदि संसार सुखों के भोग में आसक्त प्राणी को मृत्यु पकड़ लेता है। मुमूर्षु प्राणी संसार-वन में हरिण-शावक के समान है। कालरूप व्याध व्याधिरूप बाण से उसे मारता है। स्वेद से मुमूर्षु का शरीर गीला हो जाता है। उसे सैकड़ों हिचकियां आने लगती हैं। उसकी यह दुर्दशा देखकर भी निष्ठुर मृत्यु को करुणा नहीं आती। संसार के कुटुम्बी लोग नाना प्रकार से रुदन करते हैं। श्लेष्मा से उसका कण्ठ अवरुद्ध हो जाता है और उसमें घुरघुराहट होने लगती है। इसी बीच काल काम तमाम कर देता है। सब के रोते-धोते, विलाप करते समय ही यमकिंकर उसे लेकर चले जाते हैं।

इस शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियों का बन्धन है, मृत्यु कालकुठार से सब को उसी तरह काट देता है, जिस तरह प्रकुपित हस्ती कदलीवन को काट देता है। तब पादाग्र से लेकर केशपर्यन्त सभी रोमछिद्रों में मृत्यु के द्वारा दुःसह वेदना होती है। मरणकाल में प्राणी को साढ़े तीन करोड़ सूचियां (सुइयां) एक ही समय शरीर में चुभने जैसा दुःख होता है। जीवित प्राणी को आरा के द्वारा बार-बार छिन्न-भिन्न करने पर जैसा दुःख होता है, वैसा ही दुःख प्राणी को मरणकाल में होता है।

पैर से लेकर शिर तक सारी त्वचाओं के उत्पाटन में जीवित प्राणी को जो दुःख होगा, उससे भी अधिक दुःख मुमूर्षु को मरणकाल में होता है। तप्त तैल में प्रवेश तथा नासिका आदि नवों छिद्रों के बन्द करने में जीवित प्राणी को जितना कष्ट होता है, उससे भी अधिक कष्ट मुमूर्षु को मरणकाल में होता है।

इसके पश्चात् दुर्मार्गगामी प्राणियों को नरक में भी भयंकर दुःख होते हैं। मुमूर्षु प्राणी बार-बार मूर्च्छा को प्राप्त होता है, कभी-कभी जाग जाता है। वह दारुण यमकिंकरों को देखकर भयभीत होता और आंसू बहाता तथा भय से विषमूत्र (विष्ठा-मूत्र) भी त्याग देता है। कभी जोर से चिल्लाता है। अत्यन्त लम्बे-लम्बे, काले, भयंकर मुख और बर्बर केशवाले, हाथ में चाबुक और पाश लिये हुए यमकिंकरों को देखकर मुमूर्षु कांप उठता है, वह मुख से फेन तथा मल छोड़ने लगता है। यम-किंकर उस समय उस मुमूर्षु की इस प्रकार भर्त्सना करते हैं—

धिक्कार है तुम्हें, जो मनुष्यदेह पाकर भी अपना कल्याण न किया। शत्रु, मित्र मध्यस्थ की कल्पनाओं में डूबे रहे। वस्तुतः स्वयं तुम अपने शत्रु हो, क्योंकि अपनी आत्मा को बंधन से छुड़ाने का तुमने प्रयत्न नहीं किया। जो अपने प्रतिकूल हो, वही मन वचन-कर्म से दूसरों के लिए करना आत्मशत्रुता है। परपीड़क प्राणी को जीते समय दूसरों से और मरने के बाद हमलोगों से भय रहता है।'

वास्तव में प्राणियों का यह देह माता-पिता का मल ही है और प्रत्यक्ष भी मूत्र-विष्ठा से पूरित है। यदि यह काले या गोरे चर्म से

आवृत न हो, तो काक, गृध्र, मक्षिका आदिकों से मांस, रुधिर तथा विष्ठा-मूत्र के समान ही घिरा रहे। वैसी स्थिति में प्रत्येक प्राणी को दण्ड लेकर काक, गृध्र, मक्षिकाओं के निवारण में ही लगे रहना पड़े —

यदन्तरस्य देहस्य बहिः स्यात् च तदेव चेत्।
दण्डग्रहं वारयेयुः शुनः काकांश्च मानवाः ॥

यमदूत उससे कहते हैं कि विनाशी और कृतघ्न प्राणी! अस्वाधीन होकर हजारों दुःख भोगता है और स्वार्थ का भी विनाश करता है। यह देह विनाशी और कृतघ्न है, क्योंकि हजारों वर्ष इसको खूब उत्तमोत्तम पक्वान्न खिलाओ, दिव्य भूषण, वसन, अलंकार पहनाओ सुगन्धित इत्र-फुलेल लगाओ, तो भी अन्त में छोड़कर चला जाता है। यह स्वयं हजारों तरह के परिणामोंवाला है। यह सदा दुःखकारी तथा स्वार्थ का विनाशक है। इस मिथ्या, विनश्वर, अपवित्र देह के पीछे तुमने जितने दुष्कृत किये, उनके फलस्वरूप तुम्हें दिन-रात अनन्तानन्त दुःख मिलेंगे। देह के सुख के लिए दार-पुत्रादि का आश्रयण करके तुमने कोई भी अच्छा कर्म नहीं किया।

'सुकृत के अर्जन में बहुत ही थोड़ा कष्ट होता है। भगवान् परमात्मा के चिन्तन में तो कुछ भी कष्ट नहीं होता, क्योंकि वे तो साक्षात् सर्वसाक्षी आत्मस्वरूप ही हैं। तत्त्ववित् लोग कहा करते हैं कि कुसुम मर्दन से भी आत्मबोध सुकर है। यदि निर्गुण ब्रह्म जानने में असमर्थ थे, तो सगुण ब्रह्म की ही उपासना क्यों न की? भगवान् की उपासना में तो अत्यन्त आनन्द होता है। जिस सावधानी से तुमने सर्वदा दूसरों के दोषों का चिन्तन किया, उसी सावधानी से ब्रह्मात्मा का क्षणभर भी चिन्तन नहीं

किया। दूसरों के विनाश के लिए तुमने जितना उद्यम किया, अपने स्वर्ग और मोक्ष के लिए उससे स्वल्प भी उद्यम क्यों नहीं किया ? तुमने यह पाप एकान्त में किया और यह बलपूर्वक सब के समक्ष किया। इन सब साक्षी आदित्य, चन्द्रमा, भूमि, वायु अग्नि, आकाश, जल, हृदय, यम, दिन, रात और दोनों सन्ध्यायें हैं। मेरे समान बलवान् इस लोक में कौन है यह समझकर पाप में प्रवृत प्राणीको कौन शिक्षा दे ? गर्व से पाप-कर्म मे प्रवृत्त होकर मर्यादा तोड़ते हुए तुमने लोक को शोकाकुल किया। ऐसे लोकोपद्रवकारी तुम दुर्बुद्धि का शासन करनेवाले हमलोग तुमसे भी अधिक बलवान् हैं। तुम्हारे सम्पूर्ण दुष्कृतों को हमलोग जानते हैं। यमराज की सभा में तुम्हारा दिनकृत पाप सूर्य बतलायेंगे। ये सर्वदा प्राणियों के साथ रहते हैं। देवमाया से भी मोहित अज्ञानी इन्हें नहीं जानता।'

इस प्रकार यमदूत कठोर वचनों से भर्त्सना करके दारुण पाशों से बांधकर चाबुक से मारते हुए जीव को ले जाते हैं। इस तरह जीव के जाते ही उसका शरीर अग्नि, जल या पृथ्वी द्वारा भस्म, विष्ठा या कृमि-भाव को प्राप्त हो जाता है। जीवात्माके छोड़ देने पर अत्यन्त शोभन भी यह शरीर बीभत्स होकर विनष्ट हो जाता है और कोई उसकी रक्षा नहीं कर सकता। इस शरीररूप एकादशद्वारवती पुरीमें जिस मार्ग से परमात्मा ने प्रवेश किया है, योगाभ्यास, उपासना आदि द्वारा उस मार्ग से जो लोग जाते हैं, वे अवश्य ब्रह्मलोक पाते हैं। चक्षु, श्रोत्र आदि द्वारा निकलकर सुकृती प्राणी स्वर्ग और दुष्कृति प्राणी दुष्कृति के कारण अधस्तन मार्गों से निकृष्ट लोकों में जाता है।

स्त्री आदि जिसके विना मुख में एक ग्रास भी नहीं देते थे, उसके मर जाने के बाद बन्धु-बान्धवों के साथ वे ही आकण्ठ स्वादयुक्त पदार्थ भक्षण करते हैं। जिसे पहले कोमल, निर्मल, शुभ्र शय्या पर सुलाया जाता था, उसे ही प्रज्वलित अग्नि में डाल दिया जाता है। जिसे पहले मृदुलस्पर्शवाले गन्ध-पुष्पयुक्त हाथों से स्पर्श करने में भी पत्नी, बान्धवादि भयभीत होते थे, उसे ही तीक्ष्ण काष्ठों से स्पर्श करके जलाते हैं। जिसे घोड़े, हाथी, पालकी, रथ द्वारा ले जाया जाता था, उसे ही काष्ठों पर बांधकर श्मशान पहुँचाया जाता है। पहले जो मंगल-वादित्रों के साथ प्रयाण करता था, वही स्त्रियों के शोकयुक्त रोदन के साथ श्मशान में जाता है। जो लोग उसके आगे-आगे मांगलिक दधि, लाजादि वस्तु लेकर चलते थे, वे ही उस मृतक के आगे सधूम अग्नि लेकर चलते हैं। जो क्षणभर के लिए पुत्र-भार्यादि को नहीं छोड़ सकता था, वही सर्वस्वत्यागी, परमविरक्त सा बनकर श्मशानको जाता है। बान्धव लोग जिसके विना क्षणभर भी नहीं रह सकते थे, अब उसके विना प्रसन्नता से रहने लग गये। जो देवोपम प्राणी पहले जनता-मुखाब्ज-भास्कर था अर्थात् जिसे देखकर जनता का मुख-कमल खिल उठता था, मरने के बाद उसी के दर्शन-स्पर्शन से जनता को स्नान करना पड़ता है। जिसका चरणोदक बड़ी श्रद्धा से लोग शिर पर धरते थे, मरने के बाद उस परमश्रोत्रिय के स्पर्श से स्नान करना पड़ता है। इस तरह प्रत्यक्षदोषयुक्त संसारकूप में निपतित महादुःखी प्राणी भी देवमाया से मोहित होकर कुछ नहीं समझता।

इस तरह शरीर छोड़कर क्षुधा-पिपासा से व्याकुल, यमकिंकरों से

भर्त्सित वह जीव बहुकोटियोजन दूर यमालय में यमकिंकरों द्वारा शीघ्र ही पहुँचाया जाता है। जैसे पाशबद्ध और चाबुक आदिकों से ताड़ित बकरा बलिस्थल में ले जाया जाता है, वैसे ही प्राणी यमकिंकरों द्वारा यमपुर में ले जाया जाता है। यमलोक के दुःख वर्णन करने में भी अशक्य हैं। शूकर, तथा काक, गृध्र आदि पक्षियों का महान् उपद्रव यमराजपुर के मार्ग में होता है। बहुत से राक्षस नानाविध शस्त्रास्त्रों से यमपुर के पथिक को खूब मारते हैं, फिर भी वह दुष्कृत भोगने के लिए जीवित रहता है। उसे पूय, विष्ठादि से परिपूर्ण भयंकर नदियों का लङ्घन करना पड़ता है, उसमें बारबार डूबना भी पड़ता है। नक्र, मकरादि का भी भय रहता है। अग्नि, शस्त्र, जल और सन्तप्त बालुकावाली पृथ्वी तथा उद्वेजक वायु आदि के कारण महान् कष्ट होता है। असिपत्रवन आदि अत्यन्त भयंकर-नरकों में दुष्कीर्ति प्राणी महादुःख पाता है, जिनका वर्णन इतिहास पुराणों में प्रसिद्ध है।

अनन्त, अपार नारकीय दुःखों को भोगकर पुनः बीजादिभाव को प्राप्तकर प्राणी इस लोक में आता है। सुकृती प्राणी भी स्वर्गसुख भोग-कर सुकृतान्त में निपतित होकर बादल आदि द्वारा फिर पाप-पुण्य के अनुसार इसी लोक में आता है। यही जीवों की गति है।

प्रार्थना का प्रभाव

भगवान् की आराधना और प्रार्थना ऐसी वस्तु है कि वह यदि शुद्ध श्रद्धा-भक्ति से की जाय, तो कोई भी ऐसे कार्य नहीं हैं, जिनकी सिद्धि न हो सके। परन्तु उस प्रकार का विश्वास और भगवत्परायणता बिना हुए उसका नाट्य रचना सचमुच उपहासास्पद है। भगवान् ने कहा है कि जो प्राणी अनन्यभावना से मेरा चिन्तन करते हुए सम्यक् उपासना करते हैं, उन योगयुक्त के योग और क्षेम का निर्वाह मैं ही चलाता हूँ। जो वस्तु मिली नहीं है, उस का प्राप्त होना 'योग' है और मिली हुई की रक्षा करना 'क्षेम' कहलाता है। भगवान् सर्वान्तरात्मा ही भगवत्पराचण प्राणियों के योग-क्षेम का निर्वाह करते हैं।

"मनीषिणो हि ये केचित् यतयो मोक्षधर्मिणः।
तेषां विच्छिन्नतृष्णानां योगक्षेमवहो हरिः॥"

जैसे अप्राप्त लोकव्यवहारोपयुक्त वस्तुओं की प्राप्ति योग है, वैसे ही मोक्ष, अपवर्ग आदि के उपयोगी ज्ञान, समाधि आदि की प्राप्ति भी योग ही है। शरणागति का भाव महानुभावों ने ऐसा वर्णन किया है कि जैसे गौ, अश्व आदि का विक्रयण करनेवाला पुनः उनके भरण-पोषण की चिन्ता में नहीं पड़ता, उसी तरह अपने सर्वस्वसहित अपने आप को भगवान् में समर्पण कर देनेवाले प्राणी को अपने लौकिक तथा पारलौकिक कल्याण की चिन्ता नहीं रहनी चाहिये।

परन्तु, क्या यह सब ऊपर के भावों के समान बनावटी हो सकता है? प्राणियों में देखा जाता है कि ऊपर से भगवान् की शरणागति की बात "त्राहि मां शरणागतम्" आदि शब्दों में की जाती है, परन्तु हर समय अपने भोजन, पान, धन, पुत्र, प्रतिष्ठाके अर्जन में व्यग्रता दिखलायी देती है। यह प्राणियों से हो ही नहीं सकता कि घर में आग लगी हो और वह अव्यग्रता से भगवान् के ध्यान या जप में लगा रहे। यदि किसी सौभाग्यशाली की यह स्थिति हो जाय, तो अवश्य ही भगवान् उस के घर की आग बुझा देते हैं। आलस्य और अकर्मण्यतावश अपने कर्तव्यों की उपेक्षा करना यह एक बात है और भगवत्परायणता में विश्वविस्मरण होने से वैसा हो यह दूसरी बात है। अपने यहां के कितने ही भक्तों के उदाहरण हैं कि उनके भगवद्भजनमें तन्मय होने पर भगवान् ने ही उनके कर्त्तव्यों का पालन किया है। रावण, मेघनाद आदि राक्षसों की कथाओं में भी ऐसी बातें आती हैं कि वे लोग युद्ध के अवसरों में जिस समय अपने यज्ञ या देवाराधन में बैठते थे, उस समय किसी बात की परवाह नहीं करते थे। तब उनका ध्यान, आराधना आदि भंग करने के लिए सुग्रीव के सैनिकों की ओर से विघ्न किया जाता था। उस समय लोगों की यह धारणा थी कि यदि इनके निर्विघ्न देवाराधन सम्पन्न हो गये, तो फिर इन पर विजय प्राप्त करना असम्भव हो जायगा। वे लोग भी घोर अपमान और कष्ट सहन करके भी अपने आराधन से नहीं उठते थे और यदि किसी प्रकार से उन्हें उठना पड़ा, तो वे उसे अपनी सफलता में बाधक समझते थे।

सर्वत्र ही निजी प्रयाससाध्य कार्य्यों में भी प्राणियों को ईश्वर का

सहारा रखना ही पड़ता है। द्रौपदी और गजराज का जब अपना और अपने रक्षकों का सहारा टूट गया, तब फिर भगवान् के बिना उनका और कौन रक्षक हुआ। आलसी एवं अकर्मण्य नहीं, किन्तु भगवान् का भक्त अपनी भक्ति से उन अनन्तकोटि ब्राह्मण्डनायक भगवान् को भी अपने वश में कर लेता है, जिसके भ्रू विलास से माया अपरिगणित ब्रह्माण्डों का सृजन पालन एवं संहरण करती हैं। उन भक्तों का कौनसा ऐसा कार्य्य अवशिष्ट रह सकता है, जो भगवान् के कृपा कटाक्ष से न हो सके? सच्चे भक्तों की प्रार्थना से समाज एवं एक देश का ही नहीं, विश्वम्भर का कल्याण हो सकता है और हुआ है। परन्तु उस प्रकार की योग्यता और प्रार्थनातत्परता जब तक नहीं है, तब तक हम अपने अनेक लौकिक स्वार्थमय कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। जब तक प्राणी को भोजन पानादि नानाव्यवहारों का स्मरण बना रहता है, तब तक के लिए वह "सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" का अधिकारी नहीं होता। उस काल में तो "मामनुस्मर युद्धच च" के अनुसार भगवत्स्मरण के साथ कर्त्तव्यकोटि में उपस्थित समस्त लौकिक-पारलौकिक कर्मों के करने में प्रयत्नशील होना चाहिये। "कर्मण्येवाधिकारस्ते" "कुरु कर्मैव तस्मात् त्वं" इत्यादि वचनों से भगवान् ने स्पष्ट ही कहा है कि रागद्वेषविहीन होकर वैयक्तिक और सामूहिक कल्याणदृष्टि से अपने कर्त्तव्य कर्म के पालन में शास्त्रानुसार ही सन्नद्ध रहो।

वेदशास्त्रों पर आस्था और श्रद्धा रखकर उनकी आज्ञानुसार चलने से लोक-परलोक भगवदाराधने, भगवत्प्रसन्नता सब कुछ सुलभ हो जायगा व्यष्टि समष्टि लौकिक पारलौकिक ऐसा कोई भी अभ्युदय या कल्याण

नहीं है, जिसका वेदशास्त्र से सम्बन्ध न हो। देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि अहंकार की सभी हलचलों या चेष्टाओं का औचित्य, अनौचित्य सौष्ठव असौष्ठव, सम्यकत्व असम्यक्त्व वेदशास्त्र से ही निर्णीत होता है। प्रज्ञापराध से यदि कोई साधारण निषिद्ध कार्य्य हो जाय, तो इतने से ही दूसरे किसी बड़े निषिद्ध कार्य्य का अनुमोदन कदापि वाञ्छनीय नहीं हो सकता। सर्वथा शास्त्रों की दृष्टि से चलने पर कुछ भी अप्राप्य नहीं है।

संसार में बहुत से ग्रन्थों की अच्छाई-बुराई उनके प्रतिपाद्य विषय की अच्छाई-बुराई पर अवलम्बित रहती है। परन्तु वेदशास्त्र की यही विशेषता है कि वहाँ विषय की अच्छाई-बुराई वेद शास्त्र की सम्मति-असम्मति पर ही निर्भर है। उन शास्त्रों के आधार पर ही यह भी विहित होता है, कि बहुत से ऐसे भाव हैं जो स्वयं दूषित वस्तुओं के संसर्ग से दूषित नहीं होते किन्तु दूषित वस्तु ही उनके संसर्ग से भूषित हो जाती है। भगवान् की ठीक आराधना और प्रार्थना समस्त दोषजालों का उन्मूलन करके प्राणी को सन्मार्ग पर ला सकती है और वैयक्तिक सामूहिक, लौकिक, पारलौकिक सब प्रकार का कल्याण सम्पादन कर सकती है। यह तो सभी को मान्य है कि सद्बुद्धि से ही सन्मार्ग में प्रवृत्ति और सब प्रकार का कल्याण है। परन्तु वह सद्बुद्धि ही कैसे प्राप्त हो? सत्कर्म से सद्बुद्धि और सद्बुद्धि से सत्कर्म माना जाय तो फिर अन्योऽन्याश्रय दोष आता है। सत्प्रेरणा से सत्कर्म का पक्ष यद्यपि ठीक ही है, फिर भी सत्प्रेरणा का आदर करने की सद्बुद्धि वहां पर भी अपेक्षित रहती है। अतएव अपने यहाँ सर्वप्रधान गायत्रीमन्त्र द्वारा सद्बुद्धि और सत्प्रेरणा

के लिए भी भगवान् की प्रार्थना का ही संकेत मिलता है। समस्त पुरुषार्थों सभी कर्त्तव्यों का एक मूल सद्बुद्धि है। अतएव अपने देहदौर्बल्य, प्राणदौर्बल्य, इन्द्रियदौर्बल्य को सुनकर रोष नहीं होता परन्तु सद्बुद्धि का दौर्बल्य सुनने से असह्य क्षोभ उत्पन्न होता है। इसलिए सद्-बुद्धि, सत्प्रेरणा के लिए भगवान् से ही प्रार्थना की जाती है, जिससे समस्त पुरुषार्थ सरलता से अपने आप सिद्ध हो सकें।

भक्ति और मुक्ति

कहा जाता है कि अद्वैतवाद की कैवल्य मुक्ति पाषाणकल्प है, वहाँ किसी भी प्रकार का सौख्य एवं उसकी सामग्री नहीं होती। भगवान् की मंगलमयी लीलाओं का जहाँ स्फुरण हो, वही परमपुरुषार्थ है। इतना ही क्यों भावुकों का तो यह कहना है कि मुक्ति से भी श्रेष्ठ भगवान् की भक्ति है। इसीलिए भक्तलोग मुक्ति की परवाह न करके केवल भक्ति चाहते हैं—

"न किञ्चित्साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम् ॥"

अर्थात् धीर साधुजन एकान्तभक्त मेरे दिए हुए अपुनर्भव (मोक्ष) को भी नहीं चाहते। कुछ लोग भगवान् के चरितमहामृताब्धि-परिवर्त से सर्वश्रमविनिर्मुक्त होकर अपवर्ग की भी रुचि नहीं करते—

"न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते।
चरितमहामृताब्धिपरिवर्तपरिश्रमणा ॥"

भक्तिरस की ऐसी अद्भुत महत्ता है कि मुक्ति का ब्रह्मानन्द भक्ति रसामृतसिन्धु के परमाणु की तुलना में भी नहीं आ सकते—

ब्रह्मानन्दो भवेदेष द्विपरार्द्धगुणीकृतः।
नैति भक्तिरसाम्भोधेः परमाणुतुलामपि ॥"

श्री भगवान् की कथामृताब्धि का निरन्तर अवगाहन करते हैं, वे चतुर्वर्ग को तृण के समान समझते हैं—

"सत्कथाऽमृतपाथोधौ विहरन्तो महामुदा ।
कुर्वन्ति कृतिनः केचिच्चतुर्वर्गं तृणोपमम् ॥"

कुछ लोग कहते हैं कि प्राणी का जबतक भुक्ति-मुक्ति-स्पृहारूप पिशाची से पीछा नहीं छूटता, तबतक भक्तिसुख का उदय होना कठिन है—

"भक्तिमुक्तिस्पृहा यावत्पिशाची हृदि वर्तते ।
तावद्भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत् ॥"

साथ ही कुछ लोग कैवल्यमोक्ष का ही महत्त्व गाया करते हैं और भक्ति को एक अन्तःकरण-वृत्ति ही कहते हैं। उनका कहना है कि इसीलिए सर्वत्र ही शास्त्रों में प्राप्यरूप मोक्ष का ही विचार किया गया है। भक्ति तो एक साधनरूप से ही यत्र-तत्र आदरणीय बतलायी गयी है। यदि तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय, तो दोनों ही ओर सार है। कमी यही है कि एक पक्ष दूसरे पक्ष की ओर ध्यान ही नहीं देना चाहता। इतना ही नहीं, किन्तु दूसरे पक्ष को घृणा की दृष्टि से देखता है। वस्तुतः शब्दों से भले ही कोई कह ले कि मुझे मुक्ति नहीं चाहिए, परन्तु जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि, शोक और मोहादिसङ्कुलित संसार से छुटकारा पाना किसे अभीष्ट न होगा ? क्या विकराल नेत्र-व्यथा और उदर-शूल व्यथा का मिटना मन नहीं चाहता ? फिर सर्वोपद्रव तथा सर्वतापनिवृत्तिरूप मुक्ति से किसे अरुचि हो सकती है ? हाँ, स्वस्वरूपभूत परमानन्द-रसामृतसिन्धु भगवान् में स्वाभाविकी प्रीति भी कम महत्त्व की नहीं है।

भगवच्चरणपङ्कजसमर्पणबुद्ध्या अनुष्ठीयमान स्वधर्म से अन्तःकरण की शुद्धि होती है। उससे नित्यानित्य वस्तु का विवेक, तदनन्तर ऐहिक

आमुष्मिक समस्त सौख्य एवं तत्सामग्रियों में वितृष्णतालक्षण वैराग्य उत्पन्न होता है। वैराग्य से ही शान्ति, दान्ति, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, और समाधानलक्षण षट् सम्पत्तियों का आविर्भाव होता है। तब तीव्र बुभुक्षा (भूख), पिपासा (प्यास) के समान तीव्र मुमुक्षा (मोक्ष की इच्छा) व्यक्त होती है। आचार्यों का कहना है कि इस तरह मोक्ष की तीव्र आकांक्षा के बिना शुद्ध जिज्ञासा एवं श्रवण, मनन, निदिध्यासन, तत्त्वसाक्षात्कार कुछ भी नहीं सम्पन्न हो सकता। तीव्र मुमुक्षा से ही श्रवणादि की सफलता हो सकती है। इस तरह मुमुक्षुत्व, जिज्ञासुत्व अर्थात् मोक्ष की उत्कट उत्कण्ठा एवं ज्ञान की उत्कट इच्छा ही ब्रह्मसाक्षात्कार या मोक्ष का मुख्य मूल है और ब्रह्मसाक्षात्कार या मोक्ष की उत्कट उत्कण्ठा स्वधर्मानुष्ठान एवं भगवदुपासनादि का परम फल है। श्रौतस्मार्तशृङ्खलानिबद्ध चेष्टाओं से प्राणी की उच्छृङ्खल चेष्टाओं का निरोध होता है। पाशविक काम-कर्मों के निरुद्ध होने पर प्राणी की शुद्ध कर्मों और कामों में स्थिति होती है। उनसे अन्तःकरण के शुद्ध होने पर ही स्थिर वैराग्य होता है, तभी चित्त की एकाग्रता होती है। एकाग्र मन से ही श्रवण, मनन, निदिध्यासन और तत्त्वसाक्षात्कार का सम्पादन हो सकता है।

इस तरह जहाँ पहले-पहल मोक्ष की वांछा ही दुर्लभ है, तो फिर मोक्षस्पृहा, विनिर्मुक्त होने की भावना, कितनी बड़ी बात है, ? फिर भी अवश्य एक ऐसी स्थिति है, जहाँ प्राणी को गुणमात्र से निःस्पृह होना ही पड़ता है।

"तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्"

वशोकारसंज्ञक अपरवैराग्य-से भिन्न एक पर वैराग्य होता है, जो कि पुरुषस्वरूप-साक्षात्कार से होता है। गुणों से वितृष्ण होना ही उसका स्वरूप है। गुणों में सर्वश्रेष्ठ सत्त्वगुण है, सत्त्व का भी सर्वोत्कृष्ट दिव्य परिणाम है परब्रह्माकाराकारित वृत्ति। उससे भी वितृष्णता होनी ही पर वैराग्य है, क्योंकि यह (सत्त्वपुरुषान्यताख्याति) वृत्तिपरिणामिनी, प्रतिसङ्क्रमणशीला, सान्त होती हैं, तद्विपरीत निर्विकारानन्दरूपा चिति अपरिणामिनी, अप्रतिसङ्क्रमणशील, शुद्ध, अनन्त होती है। अतः गुणपरिणाम चाहे जैसा भी क्यों न हो, वह सर्वथा हेयपक्ष में ही है। अतः उससे वितृष्णता ही परवैराग्य है। परवैराग्यसम्पन्न व्यक्ति ही स्वात्मरतिलक्षण भक्ति का अधिकारी होता है वस्तुतः ऐसी स्थिति पर पहुंचे हुए मुक्त मुनीन्द्रों की ही मुक्तिस्पृहा मिटती है और वे ही पर मुख्य भक्ति के मुख्य अधिकारी हैं। वैसे तो भक्तिसुरसरि में सभी अवगाहन के अधिकारी हैं, एक पतित भी और एक मुक्त मुनीन्द्र भी। वस्तुतः भगवद्भक्ति से ही कर्मयोग, ज्ञानयोग, दोनों ही सफलता होती है। उसके बिना किसी की भी सफलता नहीं, इसीलिए मधुसूदन सरस्वती ने कहा है कि भक्ति ही कर्मयोग तथा ज्ञानयोग दोनों का साधन है। अतएव देहली-दीपकन्याय से दोनों का उपकार करने के लिए, कर्म और ज्ञान दोनों के मध्य में, भक्ति और उपासना की स्थिति होती है। साथही वह दोनों का फल भी है।

वही भक्ति दोनों की परिपुष्टि करके स्वयं ही दोनों के फलरूप में भी व्यक्त होती है अर्थात् वही भक्ति परमात्मस्वरूप में श्रद्धा तथा प्रीतिरूप में विराजमान होती है, फिर परमात्मस्वरूप साक्षात्कार के अनन्तर

परमात्माप्रीतिरूप भक्ति होती है, परन्तु वह भक्ति जन्य नहीं है। नित्य प्रत्यक् चिदात्मा सदा निरतिशय, निरुपाधिक परप्रेम का आस्पद होता है, परन्तु वहां प्रेम और प्रेम का आश्रय एवं विषय पृथक् पृथक् नहीं हैं, तभी अत्यन्त अभेदवादी अद्वैतवादी वेदान्ती भी अपने निर्विशेष प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परमात्मस्वरूप को समस्त प्राणियों के निरतिशय, निरुपाधिक परप्रेम का आस्पद मानते हैं। अतः ज्ञान के अनन्तर 'आत्मरतिरात्मक्रीड़ः', 'यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः' इत्यादि स्थलों में जो आत्मरति पद से कहा गया है, वह स्वात्मस्वरूप ही प्रेम है। भक्तिरसायनकार ने भी द्रवीभूत चित पर प्रादुर्भूत निखिलरसामृतमूर्ति भगवान् को शुद्ध प्रेम कहा है—

"भगवान् परमानन्दस्वरूपः स्वयमेव हि।
मनोगतस्तदाकाररसतामेति पुष्कलाम् ॥"

"रसो वै सः" इत्यादि श्रुतिसिद्ध रसस्वरूप परमात्मा ही सर्व जगत् का कारण है। कारण ही समस्त कार्यों में विराजमान होता है। इस रूप से रसात्मिका भक्ति स्वभाव से ही सर्वगत है। मुक्ति के विषय में यह भी कहा गया है कि भवबन्ध और मोक्ष दोनों संज्ञाएं अज्ञान से हैं। वस्तुतः स्वरूपप्रकाश सत्यज्ञानानन्दात्मा भगवान् से भिन्न होकर कोई वस्तु नहीं है। स्वप्रकाश सूर्य में केवल दिन और रात की कल्पना है, विचार करने पर सूर्य से भिन्न होकर कोई वस्तु नहीं है।

"अज्ञानसंज्ञौ भवबन्धमोक्षौ द्वौ नाम नान्यौ स्त ऋतज्ञभावात्।
अजस्रचिन्त्यात्मनि केवले परे विचार्यमाणे तरणाविवाहनी ।"

यदि बन्ध नाम की कोई वस्तु ही नहीं, तो फिर उसकी निवृत्ति ही कैसे तात्त्विक हो सकती है? इसी अभिप्राय से शुद्ध आत्मस्वरूपपरिनिष्ठित महापुरुष बन्ध और मोक्ष दोनों को ही अतात्त्विक समझकर सर्वनिरपेक्ष होकर आत्मरति सम्पादन करते हैं।

'न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥'

अर्थात् वास्तव में न निरोध है, न उत्पत्ति है, न कोई बद्ध है, न कोई साधक है, न कोई मुमुक्षु है, न कोई मुक्त है। अनन्त, अखण्ड, शुद्ध, अद्वैत ही परमार्थ तत्त्व है। इस दृष्टि से अद्वैतवादियों की दृष्टि में मोक्ष नगण्य ही है। परन्तु यदि इसी तत्त्व को एक दूसरी दृष्टि से विचार किया जाय, तो मोक्ष परमार्थभगवत्स्वरूप ही ठहरता है। अविद्यालक्षण बन्ध की निवृत्ति मुक्ति है। इस पक्ष में भी यही शङ्का होती है कि यह बन्धनिवृत्ति सती है या असती? सत्स्वरूप कहने से उसमें साधन की व्यर्थता आती है, असत्स्वरूप कहें, तो खपुष्पादिवत् साध्यता अनुपपन्न रहती है। तीसरा पक्ष इसलिए अनुपपन्न है कि एक में सदसत्स्वरूपता अनुपपन्न है। इस तरह अनेक पक्ष उठने के बाद यह कहा गया है कि अधिष्ठानस्वरूप अन्तरात्मा ही बन्धनिवृत्ति है। परन्तु यहाँ भी सन्देह होता है कि आत्मा तो नित्य ही है, अतः यदि आत्मरूप ही बन्धनिवृत्ति है, तब तो उसके लिए साधनानुष्ठान व्यर्थ ही है। इसका समाधान यह है कि ज्ञात आत्मा ही बन्धनिवृत्ति है, केवल आत्मा नहीं। अतः साधनानुष्ठान से ज्ञानोत्पादन द्वारा आत्मा में ज्ञातता उत्पन्न की जाती है।

इस पर भी यह आक्षेप होता है कि फिर तो उत्पन्न होनेवाले अन्तःकरण-वृत्तिरूप ज्ञान के नष्ट होने पर आत्मा की ज्ञातता भी अवश्य ही नष्ट होगी, अतः बन्धनिवृत्तिरूप मुक्ति भी अनित्य ही रहेगी। यह ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे कारीरीयाग का फल आसन्नकालविशिष्ट वृष्टि न होकर आसन्नकालोपलक्षित वृष्टि ही है, वैसे ही ज्ञातता-उपलक्षित चिदात्मा ही बन्धनिवृत्ति है। तत्वज्ञान के पहले आत्मा सावरण रहता है, तत्वज्ञान के उत्पन्न होने पर अनादि, अनिर्वचनीय आवरण नष्ट होने पर वह निरावरण हो जाता है। बस वह निरावरण ब्रह्म ही बन्धनिवृत्ति या मोक्ष है। इसी अभिप्राय से वेदान्तियों का कहना है कि अज्ञात प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परमात्मा ही वेदान्त का विषय है और ज्ञात होने पर वही वेदान्त का प्रयोजन है। अतएव आत्यन्तिक अनर्थ की निवृत्ति एवं परमानन्द की प्राप्तिरूप मोक्ष परमात्मस्वरूप ही ठहरता है। प्राप्ति भी उसकी उसी प्रकार है, जैसे विस्मृत कण्ठमणि की प्राप्ति। अतएव प्रह्लाद प्रभृति भक्तों ने अपने श्रीहरि को अपवर्गरूप माना है। अन्यथा यदि मुक्ति स्वप्रकाश परमान्दरसात्मक भगवान् से भिन्न हो, तब तो अद्वैतवादियों का अद्वैतभङ्ग होना अनिवार्य ही होगा।

शून्यवादियों के मत से प्रदीपकल्प विज्ञानात्मा का मिट (बुझ) जाना ही मुक्ति या निर्वाण है, परन्तु वेदान्ती की दृष्टि से तो प्रदीप का भी बुझना अत्यन्त मिटना नहीं है। जो व्यापक अग्नि घृतवर्त्तिका के सम्पर्क से दाहकत्व-प्रकाशकत्वविशिष्ट प्रदीपशिखा के रूप में व्यक्त था, वही अपने सोपाधिक रूप को छोड़कर निरुपाधिक विशुद्ध अग्नि के

रूप में अवस्थित होता है। ठीक उसी तरह बुद्धि आदि उपाधि के सम्पर्क से जीवभावापन्न चिदात्मा सोपाधिक स्वरूप से मुक्त होकर निरुपाधिक शुद्ध स्वरूप में अवस्थित होता है। ऐसी स्थिति में स्वप्रकाश ब्रह्मभावापत्ति, शुद्ध स्वरूप या ज्ञान किंवा निरावरण ब्रह्मरूप मुक्ति भगवत्स्वरूप ही ठहरती है। अतएव 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्', 'ब्रह्म ब्रह्म समश्नुते' इत्यादि वचनों के अनुसार ब्रह्मप्राप्ति को ही ब्रह्मविज्ञान का फल कहा गया है।

"सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते"

"ते प्राप्नुवन्ति मामेव", 'विशते तदनन्तरम्'"

इत्यादि गीतावचनों से भी यही तत्त्व सिद्ध होता है। यदि ब्रह्मरूप ही मुक्ति है, तब तो ब्रह्म अनन्त परमानन्दरूप है, उससे भिन्न उससे बड़ी दूसरी वस्तु की कल्पना भी नहीं हो सकती। निरतिशय बृहत् एवं स्वप्रकाश आनन्दस्वरूप ही तो ब्रह्म है। अतः जिस वस्तु में निरतिशय बृहत्ता और निरतिशय आनन्दस्वरूपता की कल्पना होगी, वही ब्रह्मस्वरूप माना जायगा। ऐसी स्थिति में मुक्ति से बड़ी कोई वस्तु है—इसका अर्थ यह होगा कि अनन्त ब्रह्मरूप भगवान् से भी बड़ी कोई वस्तु है। जो ब्रह्म से भिन्न और बड़ा कुछ मानते हैं, यह उनकी श्रद्धामात्र है, क्योंकि दृढ़ प्रमाणशून्य अर्थ में विवाद व्यर्थ होता है। वस्तु-तस्तु—

"यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्"

इत्यादि श्रीमद्भागवत के पद्यों में परमानन्द पूर्ण परब्रह्म को ही भगवान् श्रीकृष्ण कहा गया है। इसके अतिरिक्त वेदों, उपनिषदों, ब्रह्म-

सूत्रों एवं गीताओं का परम पर्य्यवसान एक, अनन्त, अखण्ड, स्वप्रकाश ब्रह्म में ही है। यदि उससे भिन्न तत्त्व ही भगवान् माना जाता हो, तो वैदिक तो उसे मानने में असमर्थ ही रहेंगे। ऐसी स्थिति में मुक्तिप्राप्ति तथा भगवत्प्राप्ति एक वस्तु होती है। अतः मुक्ति से वैराग्य मानो भगवान् से ही वैराग्य होगा। सत्त्वपुरुषान्यताख्याति तक तो हेयपक्ष में है, अतः उससे वैराग्य उचित ही है, परन्तु भगवद्रूप मुक्ति से वैराग्य सचमुच तत्त्वानभिज्ञता ही है।

जो भगवान् प्राणियों के निरतिशय, निरुपाधिक परप्रेम के आस्पद हैं, उनसे वैराग्य कैसा ? फिर भगवान् में राग को ही तो भक्ति कहते हैं। भगवत्स्वरूप मुक्ति से भक्ति में बड़प्पन की कल्पना और मुक्तिस्पृहा को पिशाची कहना कहाँ तक सङ्गत है, क्योंकि मुक्तिराग और भगवद्राग तो एक ही वस्तु है और वही भक्ति है। रागास्पद से राग का बड़प्पन कहा जा सकता है, तो भगवद्रूप मुक्ति से भक्ति को भी बड़ा कहा जा सकता है। मुक्ति या भक्ति की भगवान् को प्राप्त पुरुषों को स्पृहा न हो, यह भी असम्भव है, क्योंकि भगवान् तो सदा निरतिशय, निरुपाधिक परप्रेम के आस्पद हैं। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि ज्ञानी या मुक्त भक्ति की उपेक्षा करता है। आत्मरति और आत्म-क्रीड इत्यादि प्रकार से वर्णित रसस्वरूप भक्ति तो भगवत्स्वरूप ही है। उसमें उत्कर्षापकर्ष की कल्पना या उपेक्षा की सम्भावना नितान्त भ्रम-मूलक है।

रही भगवदाकाराकारित स्निग्ध अन्तःकरणवृत्तिरूप भक्ति की बात, वह भी कदापि उपेक्षणीय नहीं हो सकती। पहले तो इसी के प्रभाव से

सब कुछ हुआ और इसी के प्रभाव से ज्ञान में भी सरसता है। किसी भावुक ने कहा है—

"अहो चित्रमहो चित्रं बन्दे तत्प्रेमबन्धनम्।
यद्बद्धं मुक्तिदं मुक्तं ब्रह्म क्रीड़ामृगीकृतम् ॥"

कोई निराकार, निर्विकार परब्रह्म को भजते हैं, कोई सगुन, साकार सच्चिदानन्दघन परब्रह्म की वन्दना करते हैं, पर मैं तो उस अद्भुत प्रेमबन्धन की वन्दना करता हूँ, जिसमें बंधकर अनन्तकोटिब्रह्माण्डान्तर्गत अनन्त प्राणियों को मुक्ति प्रदान करनेवाला और स्वयं शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव परब्रह्म भक्तों का खिलौना क्रीड़ामृग हो जाता है! इस तरह जब शुद्ध ब्रह्म से प्रेमबन्धन (भक्ति) की महिमा बढ़ जाती है, तब तो मुक्ति से भी उसकी महिमा का बढ़ना युक्त ही है।

निरतिशय, निरुपाधिक परप्रेमास्पद भगवान् सभी के अन्तरात्मा हैं, सभी के प्रिय हैं, फिर भी भक्ति के बिना वे नीरस ही से रहते हैं। सरसता का लेश भी उनमें नहीं भासित होता।

'व्यापक ब्रह्म बिरज अविनासी, सत चेतनघन आनन्दरासी।
अस प्रभु हृदय अछत अविकारी, सकल जीव जग दीन दुखारी।
नाम निरूपण नाम जतन ते, सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन ते" ॥

कंस, शिशुपाल, और दन्तवक्त्र को भगवान् का प्रत्यक्ष दर्शन होता था, फिर भी प्रेम के बिना उन्हें उनमें सरसता का भान नहीं होता था। प्रेम का सम्बन्ध होने से साधारण वस्तु में सरसता का भान होने लगता है। इस तरह प्रेम का महत्व स्पष्ट है।

इसके सिवा भक्तितत्त्व एक ऐसी वस्तु है जिसके आशीर्वाद के

विना ज्ञान, ध्यान और मुक्ति आदि का प्राप्त होना अत्यन्त असम्भव है। भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और मुक्ति आदि भले ही भक्ति के फल हों, फिर भी बुद्धिमानों की दृष्टि में भक्ति का मूल्य मुक्ति से भी अधिक होता है। जैसे—यद्यपि अर्थ (धन) का फल धर्म और काम (भोग) ही है, फिर भी बुद्धिमान् या कृपण धर्म और भोग की उपेक्षा करके किंबहुना प्राणान्त कष्ट सहन करके भी धन की रक्षा करता है। उसकी दृष्टि यही है कि यदि अर्थ बना रहेगा, तो जब चाहेंगे तभी धर्म और भोग सम्पन्न हो सकेंगे। जैसे हीरकादि रत्नों के रहने पर समस्त पदार्थ सुलभ होते हैं, वैसे ही भक्ति के रहने पर सभी पुरुषार्थ सुलभ हो जाते हैं। किं बहुना ज्ञान और वैराग्य, जो कि मुक्तिप्राप्ति के मूल हैं, वे भी तो महारानी भक्ति के पुत्र ही हैं और सदा उन्हें भक्ति के शुभाशीर्वाद की अपेक्षा रहती हैं। इसीलिए सन्तजन मुक्ति की परवाह न करके भक्ति को चाहते हैं—

'अस विचारि हरिभगत सयाने, मुक्ति निरादरि भक्ति लुभाने"।

चिन्तामणि भक्ति से ही चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति सुगमता से हो जाती है—

"यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्।
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा"॥

कर्म, ज्ञान और वैराग्य आदि से प्राप्त होनेवाली सभी वस्तुएँ भक्ति से प्राप्त हो सकती हैं। अतिदुर्लभ कैवल्य परमपद भी भक्ति की महिमा से न चाहते हुए भी प्राप्त होता है—

'अतिदुर्लभ कैवल्य परम पद, वेद पुराण निगम आगम वद'।
'भक्ति करत सोई मुक्ति गुसाईं, अन इच्छित आवै बरियाईं'॥

जैसे स्थल के बिना जल टिक हो नहीं सकता, वैसे ही भक्ति के बिना मोक्ष हो नहीं सकता—

''जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई, तथा मोक्षसुख सुनु खगराई'।

जितने भी व्यापार होते हैं, सभी साधन से ही सफल होते हैं, साध्य-गोचर व्यापार होता ही नहीं। कुठार के उद्यमन-निपातन से ही काष्ठ का द्वैधीभावरूप फल सिद्ध होता है। अतः उस मूल में ही आदर होना स्वाभाविक है। इसी दृष्टि से मुक्ति से, यों भगवान् से भी अधिक भक्ति का महत्व गाया जाता है। इन्हीं आशयों से भावुकों का कहना है कि मुक्ति में तो भक्त भगवान् हो जाता है, परन्तु भक्ति से तो भक्त भगवान् को वश में कर लेता है। इसलिए सर्वाधिक आकाङ्क्षा भक्त को भक्ति की ही होती है—

'धर्म न अर्थ न काम रुचि गति न चहौं निर्वाण।
जन्म जन्म रति रामपद यह बरदान न आन॥'

(मा० सन्मार्ग २।७)।

भक्ति का साधन

भक्तिशास्त्र में भक्ति के अनेक भेद कहे गये हैं। लोग वैसे भी साधन-भक्ति और साध्यभक्ति इस तरह उसके दो भेद मानते हैं। परन्तु, यहां जो दो भेद बतलाये जा रहे हैं, वे हैं वैधी और रागानुगा। विधि वहां होती है, जहां अत्यन्त अप्राप्ति हो—"विधिरत्यन्तमप्राप्तौ।" कामुक की कामिनी में स्वाभाविक अनुरक्ति होती है, वहां विधि की आवश्यकता नहीं। भगवान् में स्वाभाविक अनुरक्ति नहीं है, अतः वहां विधि की आवश्यकता होती है। अतः शास्त्रों में उसका विधान पाया जाता है कि जिसे अभयप्राप्ति की इच्छा हो, उसे सर्वात्मा, परमेश्वर हरि का श्रवण, कीर्तन और स्मरण करना चाहिए—

"तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम्॥"

वैधभक्ति के लिए भगवान् का ऐश्वर्यमय रूप होना चाहिए। वैसे तो भगवान् के अनन्तरूप हैं, पर उनका विभाग तीन प्रकार से किया जा सकता है—निर्गुण-निराकार, सगुण-निराकार और सगुण-साकार। इन तीनों रूपों का वर्णन इस एक श्लोक में आ जाता है—

"स्वाराज्यलक्ष्म्याप्तसमस्तकामः स्वयं त्वसाम्यातिशयस्त्र्यधीशः।
बलिं हरद्भिश्चिरलोकपालकिरीटकोटीडितपादपीठः॥"

(स्वयं राजते शोभते इतिस्वराट् आत्मा, तस्याभावः स्वाराज्यम्।

तदेव लक्ष्मीस्तया आप्ताः समस्ताः कामा यस्यासौ स्वाराज्यलक्ष्म्या-प्तसमस्तकामः)

भगवान् स्वयं अपनी सत्ता से ही आप्तसमस्तकाम हैं (साम्यञ्च अतिशयश्च न विद्यते यस्यासौ असाम्यातिशयः)। भगवान् के न तो कोई समान ही है, न अधिक ही। समानता और अतिशयता की यह बात तो तब होती, जब दो ईश्वर होते। दो ईश्वर किसीभी युक्ति से सिद्ध नहीं होते, क्योंकि दोनों को ही सत्यसङ्कल्प और सर्वशक्ति-मान् मानना पड़ेगा। दोनों का काम सलाह से होता है या स्वतन्त्र ? यदि सलाह से, तो फिर ईश्वर नहीं वह तो एक पञ्चायत हुई। यदि दोनों स्वतन्त्र काम करते हैं, तो सर्वदा दोनों की इच्छाएं एक सी ही हों यह कोई नियम नहीं है। कल्पना कीजिये कि ऐक की इच्छा जिस क्षण में अनन्तकोटिब्रह्माण्ड के पालन की हुई, उसः क्षण दूसरे की इच्छा संहार की, तो क्या दोनों परस्परविरुद्ध इच्छाएं एक साथ सफल होंगी ? ऐसा तो हो नहीं सकता। यदि दोनों का बल परस्परसङ्घर्ष में शान्त हो गया, तो कोई भी ईश्वर नहीं ठहरेगा। यदि एक की इच्छा बलवती हुई, तो वही सत्यसंकल्प, सर्वशक्तिमान् हुआ, दूसरा नहीं। इस तरह ऐक ही ईश्वर ठहरता है। इसी बात को श्रुति ने भी कहा है-'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च कुतोऽन्यः'। वे भगवान् अधि-आत्म, अधि-देव, अधि-भूत अथवा स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों जगत् के स्वामी हैं। "स्वयं त्वसाम्याति-शयस्त्र्यधीशः" से निर्गुण-निराकार, निर्विकार रुप तथा "स्वाराज्य-लक्ष्म्याप्तसमस्तकामः" से अनन्तकल्याणगुणनिलय सगुण-निराकार रुप कहा गया है। अनन्तकोटि कन्दर्पदर्पदमनपटीयान्, अनन्तकल्याण-

गुणगणनिलय, मधुर, मनोहर, सौन्दर्यसुधासिन्धु, भगवदीय मङ्गलमय सगुण-साकार विग्रह के लिए क्या कहा जाय ? उस रुप को तो भक्त जैसा चाहें वैसा बनाते हैं। इसलिए कहा जाता है कि संसार को बनायें भगवान् और भगवान् को बनायें भक्त—

"यद्यद्धियात उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुःप्रणयसे सदनुग्रहाय।"

भगवान् तो निर्गुण, निराकार, निर्विकार हैं। भक्तलोग अपने चित्त से जिस जिस रुप की भावना करते हैं, भगवान् भक्तों पर अनुग्रह करके वही रुप धारण करके भक्तों को दर्शन देते हैं। ऐक सगुणसाकार रुप से भगवान् वैकुण्ठधाम में विराजते हैं। उस स्वरुप के अनन्त-गुणाश्रयत्व एवं महामहिम ऐश्वर्यसम्पन्नत्व का वर्णन 'बलि हरद्भिश्चिर-लोकपालकिरीटकोटीडितपादपीठः' से किया गया है। भगवान् के श्रीचरणों की कोमलता लोकोत्तर है। अनन्तकोटिकन्दर्पदर्पदलनपटीयान् मङ्गलमय भगवान् के जिन चरणारविन्दों को मृदिमाधिष्ठात्री महालक्ष्मी—यह सोचकर कि मेरा हस्त बहुत कठोर है, भगवान् के चरणारविन्द अति-कोमल हैं, कहीं उन पर मेरे हाथों से आघात न हो जाय—अपने हस्तार-विन्द से स्पर्श करने में संकुचित होती है, उन चरणारविन्दों को देवाधि-देवशिरोमणि अपने कठोर किरीट के अग्रभाग से कैसे स्पर्श करें ? अतः वे भगवान् के चरणारविन्द के आश्रय महार्हरत्नजटित पादपीठ का ही स्पर्श करते हैं और अपने को धन्य समझते हैं। इतना ऐश्वरीय ज्ञान होने पर भी उनको न भजने से पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग आदि अनेक अनर्थ-परिप्लुत भीम भवाटवी में भटकना पड़ेगा, इस अनर्थ का बोध होने से प्राणी को वैधीभक्ति का आश्रय लेना पड़ता है।

यहाँ प्रश्न होता है कि भगवान् के साकार होने का कारण क्या है ? इस पर कहा जा सकता है कि पहला कारण परमहंस महामुनीन्द्रों को 'श्रीपरमहंस' बनाने के लिए भगवान् का अवतार होता है—

"तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम् ।
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येमहि स्त्रियः ॥

केवल रावण और कंस जैसे राक्षसों को मारने के लिए भगवान् का अवतार नहीं होता । मशक को मारने के लिए तोप का प्रयोग क्यों ? अनन्तकोटिब्रह्माण्ड का क्षणमात्र में उत्पादन, पालन, संहार करनेवाली मायानटी जिनके भ्रुकुटि-विलासमात्र से नाचती है, वे सत्यसङ्कल्प, सर्वशक्तिमान् रावणादि का संहार सङ्कल्पमात्र से कर सकते हैं । इसीलिए तो कहा गया है कि "किं तस्यशत्रुहनने कपयः सहायाः" । जो पृथिवी में रहनेवाले यक्ष, राक्षस, गन्धर्वों को अङ्गुली के अग्रभाग से समाप्त कर सकता है, जो कि "जग मे सकल निशाचर जेते, लक्ष्मण हने निमिषमहं तेते" का उद्घोष करता है, उस को शत्रु मारने में वानर और भालुओं की क्या अपेक्षा ? भगवान् का मर्त्य अवतार मनुष्यों की शिक्षा के लिए होता है—

"मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं रक्षोवधायैव न केवलं विभोः ।"

अतः कहना पड़ता है कि अमलात्मा परमहंस महामुनीन्द्रों को भक्तियोग विधान के लिए ही भगवान् का अवतार होता है जिन्होंने अपने हृदय से राग को जड़-मूल से खो दिया है, उनके हृदय में राग उत्पन्न करने के लिए होता है । "रामप्रेम बिनु सोह न ज्ञाना" भगवद्भक्ति के बिना

ज्ञान शोभित नहीं होता—"नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्"।

वह स्वरूप ऐसा सुन्दर होता है कि भगवान् स्वयं अपनी अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायकता भूलकर उस रूप को देखते ही नाच उठते हैं—

"रूपराशि छबि अजिरबिहारी; नाचहिं निज प्रतिबिम्ब निहारी।"

जनकजी भी तो कहने लगे—

"इनहिं विलोकत अनि अनुरागा; बरबस ब्रह्मसुखहिं मन त्यागा।"

यह रूप स्वयं ही भगवान् को विस्मय करानेवाला होता है—

"यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोगमायाबलं दर्शयता गृहीतम्।
विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परं पदं भूषणभूषणाङ्गम्"।

परमहंसों को भक्तियोग जहां हुआ कि वे 'श्रीपरमहंस' हुए। एक हंस तो होते हैं सांख्यवादी, जिन्होंने प्रकृति-पुरुष को सर्वथा नीर-क्षीर के समान पृथक् पृथक् समझ लिया है। दूसरे परमहंस होते है वे, जिनकी दृष्टि में अविद्या, तत्कार्यात्मक प्रपञ्च रहता ही नहीं। उनकी अवस्था होती है—

"जेहि जाने जग जाय हेराई; जागे यथा स्वप्नभ्रम जाई।"

उनके हृदय में भक्ति का अङ्कुर उत्पन्न होते ही वे 'श्रीपरमहंस' हो जाते हैं। भक्ति और ज्ञान का पारस्परिक विरोध अनभिज्ञ लोग समझते हैं। 'श्रीमद्भागवत-महात्म्य' में लिखा है कि भक्तिमाता के ज्ञान और वैराग्य ये दो पुत्र हैं। मां अपने पुत्र का सर्वदा महत्व देखना चाहती है। भक्तिमाता कब चाहेगी कि हमारा पुत्र ज्ञाननिर्बल, असमर्थ रहे? पुत्र चाहे कितना ही बड़ा हो जाय, माता का सम्मान सर्वदा करता है।

परमहंसपरिव्राजकाचार्य संन्यासी का पिता तो अपने पुत्र संन्यासी को प्रणाम करता है, पर यदि माता मिले, तो परमहंस-परिव्राजकाचार्य संन्यासी अपनी माता को दण्डवत्-प्रणाम करता है। ज्ञान कितना भी बड़ा हो जाय, मां भक्ति का तो सम्मान वह सर्वदा करेगा ही। आत्माराम, आप्तकाम, पूर्णकाम, परमनिष्काम महामुनीन्द्र भी भगवान् की भक्ति करते हैं। यदि पूछा जाय क्यों, तो इसका उत्तर शास्त्र यही देते हैं-'इत्थंभूतगुणो हरिः'। इसी भक्ति को 'रागानुगा भक्ति' कहते हैं। यह भक्ति गोपाङ्गनाओं को थी। वे कहती हैं कि पुरुषभूषण, आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र से जो सुभ्रू अपने हृदय को भूषित नहीं करती, उसके कुल, शील, रुप, गुण आदि को धिक्कार है—

'ईदृशाः पुरुषभूषणेन या भूषयन्ति हृदयं न सुभ्रुवः।
धिक्तदीयकुलशीलयौवनं धिक्तदीयगुणरूपसम्पदः॥'

व्रजाङ्गनाओं का इतना निःसीम अनुराग है कि वे घबराकर अपना मन भगवान् की ओर से हटाना चाहती हैं। मुनिलोग धारणा, ध्यान आदि के द्वारा विषयों से मन हटा-हटाकर जहां जोड़ना चाहते हैं, गोपाङ्गनाएं वहाँ से मन हटाकर विषयों में लगाना चाहती हैं। योगीन्द्र-मुनीन्द्र क्षणमात्र हृदय में जिस की स्फूर्ति के लिए उत्कण्ठित होते हैं, वे मुग्धाएं उसी को हृदय से निकालना चाहती हैं—

'प्रत्याहृत्य मुनिः क्षणं विषयतो यस्मिन् मनो धित्सति
बालासौ विषयेषु धित्सति मनः प्रत्याहरन्ती ततः।
यस्य स्फूर्तिलवाय हन्त हृदये योगी समुत्कण्ठते
मुग्धेयं किल पश्य तस्य हृदयान्निष्क्रान्ति माकाङ्क्षति॥

जिसे ऐसी भक्ति प्राप्त है, उसके सौभाग्य का क्या कहना ? पर उस स्वाभाविकी भक्ति की प्राप्ति भी भगवत्कृपा पर अवलम्बित है और भगवत्कृपा भगवदाज्ञाभूत श्रुति-स्मृत्युक्त स्वस्वकर्तव्य के पालन पर ही निर्भर है। अतएव भगवद्भक्ति के सम्पादनार्थ भी शास्त्रोक्त कर्तव्यों का अनुष्ठान परमावश्यक है।

दास्ययोग

इस स्वतन्त्रता-युग में 'दास्योग' का उपदेश! पर सचमुच जो भगवान् की दासता में सुख तथा शान्ति है, वह संसार के सम्राट् बनने में कहाँ ? भगवान् अखिलब्रह्माण्डनायक हैं, उनकी दासता में सबसे बड़ी विलक्षणता तो यह है कि दास अपनी सच्ची सेवा से उनका सखा ही नहीं, हृदयेश्वर तक बन जाता है। 'दासोऽहम्' कहते-कहते 'सोऽहं' की नौबत आ जाती है और गोपीवस्त्रापहारी भगवान् हठात् 'दासोऽहम्' के 'दा'-कार को चुरा लेते हैं--

"दासोऽहमिति या बुद्धिः पूर्वमासीज्जनार्दने।
दाकारोऽपहृतस्तेन गोपीवस्त्रापहारिणा॥"

भगवान् की सेवा कठिन होते हुए भी बड़ी सरल है वे तो थोड़े ही में प्रसन्न हो जाते हैं। आत्माराम, आप्तकाम, पूर्णकाम भगवान् को धन, जन, विद्या, बल आदिकों की अपेक्षा ही क्या है? सन्देह होता है कि यदि ऐसी बात है, तो भगवान् स्वयं ही भक्तों को अपने सर्वस्वसमर्पण का आदेश क्यों करते हैं--

"यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय! तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

हे कौन्तेय! तुम जो कुछ भी यज्ञ, तप, दानादि लौकिक, वैदिक धर्म-कर्म करते हो, वह सब मुझ सर्वान्तरात्मा का समर्पण कर दो। इसका समाधान तो यही है कि प्रभु स्वयं तो निजलाभ (स्व-

स्वरूपभूत अनन्त परमानन्दलाभ) से ही परिपूर्ण हैं, परन्तु भक्त की कल्याणकामना से ही उसकी समर्पित सपर्याओं का ग्रहण करुणा से करते हैं, क्योंकि प्राणी जो कुछ भगवान् के पादपङ्कज में समर्पण करता है, वही उसे मिलता है। जैसे दर्पणादि के भीतर प्रतिमुख (मुख-प्रतिबिम्ब) को यदि कटक, मुकुट, कुण्डलादि भूषण-वसन पहनाकर शृङ्गार करना हो, तो मुख (बिम्ब) का ही शृङ्गार करना आवश्यक है। बिम्ब के शृङ्गार से प्रतिबिम्ब अनायास ही शृङ्गारित हो जाता है, अन्यथा विश्वभर के शिल्पी (कारीगर) भी प्रतिबिम्ब को मुकुट, कुण्डलादि पहनाने में असमर्थ ही रहेंगे। ठीक इसी तरह कोई भी प्राणी अपने पारलौकिक अभ्युदय, निःश्रेयसादि पुरुषार्थों की प्राप्ति तभी कर सकता है, जब श्रद्धा-भक्ति से प्रभु पदपङ्कज की सपर्या करें। मानाकि आज कोई साम्राज्य, वैराज्यादि अनेक आनन्द-सामग्रियों से परिपूर्ण है, परन्तु इस विनश्वर शरीर का पात होने पर कहाँ जायगा, कैसे और क्या करेगा ? कोई भी ऐसा व्यक्ति या संस्था नहीं है, जहाँ हम अपनी धरोहर रखें और जन्मान्तर में फिर ग्रहण कर सकें। एकमात्र यही उपाय है कि भगवान् के शास्त्रानुसार यज्ञ-तप दानादि से भगवान् की सपर्या करके भगवान् में ही उन्हें समर्पण किया जाय। करुणामय, सर्वस्व, सर्वसामर्थ्य, सर्वप्रद भगवान् ही प्राणियों की भक्ति-श्रद्धा से सम्पादित आराधनाओं का परममनोहर फल प्रदान करते हैं। इसलिए यद्यपि स्वतः "नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः" के अनुसार प्रभु किसी का पुण्य-पाप ग्रहण नहीं करते, तथापि अपनी अचिन्त्य, अनन्त दिव्य लीलाशक्ति से भक्त-कल्याण-कामना से भक्तसम्पादित सम्मानों को ग्रहण करते हैं। इतना

ही नहीं, प्रत्युत पुनः पुनः भक्त को प्रोत्साहित करते हैं कि तुम सब कुछ मुझ में ही समर्पित कर दो। भगवान् यह भी कहते हैं कि जो भक्त पत्र पुष्प, फल, जल मुझ को समर्पण करता है, मैं उसे अनन्य आदरसे ग्रहण किंवा अशन करता हूँ। यद्यपि पत्र, पुष्प खाद्य पदार्थ नहीं हैं, तथापि प्रभु भक्तिरसपरिप्लुत पत्र-पुष्पादिकों को भी खाते हैं। भक्त-भावना-पराधीन, प्रेमविभोर भगवान् विवेकहीन मुग्ध शिशु के समान पत्र-पुष्पादि को भी खा लेते हैं। किंवा रसिकेन्द्रशेखर रसराजमणि भगवान् रसपरिप्लुत पत्र-पुष्पादि का स्वाद रसना से ही लेना उचित समझते हैं। तभी तुलसीदल एवं जलचिल्लुक से ही भक्तवत्सल भगवान् भक्तों के हाथ अपने-आपको बेंच देते हैं—

"तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुलुकेन च।
विक्रीणीते स्वमात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः॥"

इतना ही क्यों, प्रेममय प्रभु तो नवनीत और दधि के लिए प्रेममयी व्रजाङ्गनाओं के घर चोरी भी करने जाते हैं। क्षीरसागरशायी एवं परमानन्दसुधासिन्धु किंवा पूर्णानुरागरससागर भगवान् को—

"अहीर की छोहरिबां छछिया भरि छांछ पर नाच नचावें।"

किसी दिन नवनीत चुराकर आतप-सन्तप्त भूमि पर दौड़ते हुए कृष्ण को देखकर कोई स्नेहविह्वला सौभाग्यशालिनी व्रजाङ्गना कहती है—

"नीतं यदि नवनीतं नीतं नीतं किमेतेन।
आतपतापितभूमौ माधव मा धाव मा धाव॥"

नवनीत चुरा लिया तो क्या हुआ, भले ले लिया, परन्तु हे माधव!

आतप (धूप) से तपित भूमि पर मत भागो, मत दौड़ो। एक प्रेमी तो बड़ी सुन्दर सलाह देते हैं—

"क्षीरसारमपहृत्य शङ्कया स्वीकृतं यदि पलायनं त्वया।
मानसे मम घनान्धतामसे नन्दनन्दन! कथं न लीयसे॥"

हे प्रेममय नन्दनन्दन! यदि आप ने नवनीत चुराकर माँ की डर से पलायन ही स्वीकार किया, तब तो फिर आओ नाथ! मेरे गाढ़ अज्ञानान्धकारसमाच्छन्न मानस में मैं तुम्हें छिपा लूं, बस फिर तुम्हें कोई नहीं देख सकेगा। यह आप्तकाम, पूर्णकाम, आत्माराम प्रभु की सकामता केवल भक्तमनोनुगामिनी लीलाशक्ति के प्रभाव से ही है।

"नमो नवघनश्यामकामकामितदेहिने।
कमलाकामसौदामकणकामुकगेहिने॥"

अनन्तकोटि कन्दर्पों के मनोहरण करनेवाले नवघनश्याम भगवान् के लिए नमस्कार है, जो कि कमला की कामनावाले सुदामा के तण्डुल की कामना करते हैं।

प्रभु को प्रसन्न करने के लिए धन, उत्तम कुल, रूप, तप, श्रुत, ओज, तेज, प्रभाव, बल, पौरुष, बुद्धियोग ये सब पर्याप्त नहीं हैं। गजेन्द्र पर तो इन पूर्वोक्त धनादि के बिना भी भगवान् सन्तुष्ट हो गये। इतना ही नहीं, भगवत्पादारविन्द-विमुख, द्वादशगुणसम्पन्न ब्राह्मण भी नगण्य है और भगवत्पादपङ्कजानुरागी श्वपच भी आदरणीय होता है, क्योंकि वह भूरिमान विप्र आत्मशोधन भी नहीं कर सकता और वह श्वपच तो कुल-सहित अपने को मुक्त कर लेता है। यद्यपि कही जा सकती है कि साक्षात् भगवान् ने श्रीमुख से ही कहा है—

"ब्राह्मणो जन्मना श्रेयान्सर्वेषां प्राणिनामिह।
विद्यया तपसा तुष्ट्या किमु मत्कलया युतः॥"

समस्त प्राणियों में ब्राह्मण जन्म से ही श्रेष्ठ है, फिर विद्या, तपस्या, सन्तोषरूप मेरी कलाओं से युक्त ब्राह्मणों के विषय में तो कहना ही क्या?

"न ब्राह्मणान्मे दयितं रूपमेतच्चतुर्भुजम्।
सर्ववेदमयो विप्रः सर्वदेवमयो ह्यहम्॥"

अर्थात् मुझे अपना यह चतुर्भुज रूप भी ब्राह्मण से अधिक प्रिय नहीं है। सर्ववेदमय ब्राह्मण है और सर्वदेवमय मैं हूं। फिर ब्राह्मण से श्वपच की श्रेष्ठता कैसे कही जा सकती है? तथापि भक्ति के बिना अत्यन्त पूज्य ब्राह्मण भी निन्द्य है और भक्तियुक्त अतिसाधारण श्वपच भी आदरणीय है। यह कहकर भक्ति का ही माहात्म्य वर्णन किया गया है। यहां ब्राह्मण की निकृष्टता-वर्णन में तात्पर्य नहीं है, वास्तव में सिद्धान्त तो यह है कि जैसे गौ, तुलसी, अश्वत्थ, गङ्गाजल आदि पदार्थ भले ही अपनी दृष्टि से अकृतकृत्य हों, परन्तु पूजकों के तो परमकल्याण के ही निदान हैं। गौ स्वयं पशु होने के कारण चाहे आत्मकल्याण करने में असमर्थ ही हो, परन्तु शास्त्रानुसार उसके रोम-रोम में देवताओं का निवास है और उसके पञ्चगव्य तथा रज से अवश्य ही सर्वपापक्षय होता है। इसी तरह जन्मना श्रेष्ठ ब्राह्मण पूजक का कल्याण कर सकने पर भी यदि स्वयं स्वधर्मनिष्ठ या भगवत्परायण न हुआ, तब तो वह आत्मकल्याण नहीं कर सकता। पूजकों की श्रद्धा सुदृढ़ करने के लिए शास्त्रों में सर्वगुणनिरपेक्ष जन्म से ही ब्राह्मण को श्रेष्ठ बतलाया गया है और

ब्राह्मण कहीं जन्मना ब्राह्मणत्व के ही गर्व में स्वधर्मबहिर्मुख न हो जाय, अतः उसके लिए यह कहा गया है कि भगवान् से विमुख ब्राह्मण की अपेक्षा तो भगवद्भक्त श्वपच भी श्रेष्ठ है। इस तरह निन्दापरक वचन ब्राह्मणों को सावधान करने के लिए हैं और स्तुतिपरक वचन पूजकों की श्रद्धा स्थिर करने के लिए हैं। परन्तु मोहवश आज ब्राह्मण तो स्तुतिपरक और पूजक निन्दापरक वचनों को ही सामने रखते हैं।

अस्तु, यह दास्ययोग का ही अद्भुत महत्त्व है कि जिसके बिना विप्र भी अकृतार्थ रहता है और जिसके सम्बन्ध से श्वपच भी कुलसहित कृतार्थ हो जाता है। धन, जन, गेहादि निज सर्वस्व तथा अपने आप को प्रभु में समर्पण करके श्रद्धास्नेहपुरःसर प्रभुपादपङ्कजसेवन ही दास्योग है। प्रभु के परमानन्दरसात्मक मधुर स्वरूप, गुण, चरित्रादि में मन का गाढ़ आसक्ति ही मुख्य सेवा है। इसी को सिद्ध के लिए वर्णाश्रमधर्म, यज्ञ, तप, दान आदि परमावश्यक हैं। तन, मन, धन से भगवत्सेवा में तत्पर सेवक सिवा भगवान् के किसी वस्तु को अपना नहीं समझता। वह धर्म, कर्म, समाज-सेवा आदि सभी कुछ भगवान् के ही लिए करता है, निखिल विश्व को अपने भगवान् का ही रूप समझकर उसकी सेवा करता है। सोते-जागते सदा ही अनन्य सेवक के समस्त व्यापार केवल स्वामी के लिए ही होते हैं। भगवान् का विश्व और उनके भक्त भगवदीय हैं। भगवदीय सेवा से भगवत्सेवा प्राप्त होती है। इसलिए भगवान् का दास भगवदीयसेवा में बड़ा स्नेह रखता है। वास्तव में यदि किसी सौभाग्यशाली को निष्कपट दास्ययोग मिल जाय, फिर तो उसे कुछ भी कर्तव्य अवशिष्ट नहीं रहता। भगवत्पादपङ्कज में जिसका मनोमिलिन्द आसक्त है,

वह तो निश्चिन्त अनन्य रहता है। जो दशा पुत्रवत्सला माँ के उत्सङ्ग-लालित शिशु की है, वही सेवक की है। वे प्रभु के भरोसे ही अनन्य असोच रहते हैं—

"सेवक सुत पितु मातु भरोसे, रहहिं असोच बने प्रभु पोसे।"

भगवान् में आत्मनिवेदन करने से बढ़कर शोकनिवृत्ति का और उपाय ही क्या है? अनन्तकोटि-ब्रह्माण्ड के माता-पिता भगवान् के शरणागत सेवक को फिर आँच कहाँ? शरणागत के लिए ही तो भगवान् का "मा शुचः" यह आश्वासन है। सेवाभक्ति का ऐसा महत्त्व है कि भगवद्भावनापन्न मुक्त सन्त भी मुक्ति की ओर न देखकर सेवाभक्ति चाहते हैं। तभी तो श्रीप्रहलाद पूर्ण कृतकृत्य होकर भी भगवदीयों तथा भगवान् की सेवा का वर माँगते हैं।

तुलसी-रामायण के राम

गोस्वामी तुलसीदासकृत 'रामचरित-मानस' के राम कौन हैं, इसका उत्तर यही है कि जो व्यापक, ब्रह्म, निरञ्जन, निर्गुण, विगतविनोद है, वही अज, अव्यक्त अपनी दिव्य लीला-शक्ति से सगुण, साकार सच्चिदानन्द-घनरूप में प्रकट हुए हैं। मनु और शतरूपा ने ऐसे ही परब्रह्म का साकार रूप में दर्शन करना चाहा था—

"नेति नेति जेहि निगम निरूपा, चिदानन्द निरुपाधि अनूपा।
अगुण अखण्ड अनन्त अनादी, जेहि चिन्तहिं परमारथवादी।
शम्भु विरञ्चि विष्णु भगवाना, उपजहिं जासु अंश विधि नाना।
जो स्वरूप बस शिव मनमांही, जेहि कारण मुनि जतन कराहीं।
जो भुसुण्डि मनमानस हंसा, सगुण अगुण जेहि निगम प्रशंसा।
देखहिं हम सो रूप भरि लोचन, कृपा करहु प्रणतारतिमोचन।"

जिसे निगम अतद्व्यावर्तक 'नेति-नेति' वचनों से निरूपण करते हैं, जो निरुपाधिक, अनुपमेय चिदानन्दस्वरूप है, जो निर्गुण, अखण्ड और अनादि है, जिसको परमार्थवादी चिन्तन किया करते हैं, जो शिवजी तथा भुशुण्डि के हृदयसर्वस्व हैं, उसी स्वरूप को मनु देखना चाहते थे। वही तत्त्व उनके सामने नीलसरोरुह, नीलमणि, नील नीरधर श्याम कन्दर्पकोटिकमनीयस्वरूप में प्रकट हुआ। उसी स्वरूप का श्रीमद्राघवेन्द्ररूप में प्राकट्य हुआ था। तुलसी के राम अनन्तकोटि काम से भी सुन्दर, कोटि दुर्गा से भी अधिक अरिमर्दन में निपुण हैं, राम में करोड़ों इन्द्र

से भी अधिक विलास और करोड़ों आकाश से अधिक अवकाश है। सौ करोड़ मरुत् देवताओं से भी अधिक बलवान्, सौ करोड़ सूर्य से भी अधिक प्रकाशवान् हैं, सौ करोड़ चन्द्रमा से भी अधिक सुशीतल हैं। शतकोटि पाताल के समान प्रभु की अगाध गम्भीरता है। शतकोटि यमराज से अधिक करालता, शतकोटि काल से भी अधिक दुस्तरता, अमित कोटि तीर्थों के समान प्रभु का अघपुञ्जनशावन मञ्जुल नाम है। वे शतकोटि हिमाचल की सी अचलता, शतकोटि सिन्धु की सी गम्भीरता, शतकोटि कामधेनु के समान अभीष्टदायकता, शतकोटि शारदा की चतुरता, शतकोटि ब्रह्मा की निर्माणकुशलता, शतकोटि विष्णु की पालनी शक्ति, शतकोटि रुद्र की संहारिणी शक्ति से सम्पन्न हैं। शतकोटि कुबेर से भी अधिक धनवान्, अनन्त माया के समान प्रपञ्चविषय हैं। निगमागमों के महातात्पर्य के विषयीभूत भगवान् राम निरवद्य एवं निर्लेप हैं। श्रुतियाँ इन्हें अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों की कल्पनाओं का अधिष्ठान तत्त्व मानती हैं। जिसको जान लेने से जगत् हिराय जाता है, जैसे स्वप्नदर्शी के प्रबुद्ध होने पर स्वप्न मिट जाता है—

"जेहि जाने जग जाय हिराई, जागे यथा स्वप्न भ्रम जाई।"

इसी तरह जगत् श्रीहरि के आश्रित रहता है। यद्यपि यह असत्य है, फिर भी दुःखदायी प्रतीत होता है—

'यहि विधि जग आश्रित हरि रहई,
यदपि असत्य देत दुख अहई।'

अन्यत्र शब्द, स्पर्शादि विषय, उनके भासक इन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कारादि अन्तःकरण, उनके सहायक देवता एवं जीव ये

एक दूसरे के प्रकाशक हैं, किन्तु जो सब का परमप्रकाशक है, वही राम है—

"सबकर परम प्रकाशक जोई, राम अनादि अवधपति सोई।"

सारांश यह कि वेदान्तों के महातात्पर्य का विषयीभूत शुद्ध ब्रह्म ही तुलसी-रामायण के राम हैं।

अन्यत्र भासक से भास्य पृथक् ही हुआ करता है, परन्तु तुलसी-रामायण की दृष्टि से सम्पूर्ण भास्य भासक में ही कल्पित है। सम्पूर्ण जगत् भास्यकोटि में आ जाता है, स्वप्रकाश अखण्ड भान राम ही भासक होते हैं—

"जगत प्रकास्य प्रकाशक रामू, मायाधीश ज्ञान गुणधामू।"

अधिष्ठानस्वरूप राम का साक्षात्कार होते ही कल्पित जगत् बाधित हो जाता है, यह भी अन्यत्र स्पष्ट है—

"जेहि जाने जग जाइ हेराई, जागे यथा स्वप्नभ्रम जाई।"

अर्थात् जिस राम को जानते ही विश्व इस तरह बाधित हो जाता है, जैसे जागते ही स्वाप्निक प्रपञ्च मिट जाता है। तुलसीदासजी की दृष्टि में माया, जीव, काल, स्वर्ग, नरक सम्पूर्ण जगज्जाल अविचारितरमणीय है, दृष्ट श्रुत होने पर भी विचार करते ही उसमें परमार्थबुद्धि नहीं रह जाती—

"माया जीव कर्म अरु कालू, स्वर्ग नरक जहँ लगि जगजालू।
देखिय सुनिय गुनिय मनमाहीं, मोहमूल परमारथ नाहीं।"

सर्वाधिष्ठान भगवान् के साक्षात्कार से सम्पूर्ण अनर्थों की निवृत्ति हो जाती है। किं बहुना, सम्पूर्ण जगत् और उसकी जननी माया में अस्तित्व और स्फूर्ति भगवान् से ही प्राप्त होती है—

"जासु सत्यता तें जड़ माया, भास सत्य इव मोहसहाया।"

जिस की सत्यता से जड़ माया और उसके बच्चे जागतिक प्रपंच में सत्यता आती है। यह सब पारमार्थिक स्थिति यद्यपि अत्यन्त स्पष्ट है, तथापि अनिर्वचनीय माया की महिमा से प्रपञ्च प्राणियों को अनेक अनर्थों में भटकाया करता है—

'सो दासी रघुबीर की समुझे मिथ्या सोऽपि।
छूटै न रामभजन बिनु नाथ कहौं पन रोपि॥"

माया तत्कार्यात्मक जगत् यद्यपि झूठा है, तथापि भगवान् के भजन बिना इसका मिटना असम्भव ही है—

"तुलसीदास यह विधि प्रपञ्च जग यदपि झूठ श्रुति गावे।
रघुपति-कृपा सन्त सङ्गति बिनु को भवत्रास नसावै॥

प्रभुप्रेमी प्राणी तो प्रभु के अनुग्रह से सम्पूर्ण जाग्रत एवं स्वप्नकाल के दृश्य प्रपञ्च को अपने चिदानन्दस्वरूप में लीन करके निद्रा को छोड़कर अर्थात् सुषुप्ति अवस्था से भी अतीत होकर प्रत्यक् चैतन्याभिन्न परमात्मस्वरूप में विराजमान होकर परमानन्द की नींद सोता है—

"सकल दृश्य निज उदर मेलि सोवै निद्रा तजि योगी।
सो हरिपद अनुभवै परमसुख अतिशय द्वैतवियोगी॥"

जिस तरह वस्तुतः दर्पण में न होता हुआ ही दर्पणान्तर्गत दृश्य प्रतिबिम्बरूप में प्रतिभासित होता है, वैसे ही स्वप्रकाश अनन्त चिद्रूप दर्पण में ही सम्पूर्ण दृश्य प्रतिबिम्ब के समान ही मालूम पड़ता है। दर्पणग्रहण के बिना प्रतिबिम्ब नहीं दिखायी देता, वैसे ही अखण्ड मान के ग्रहण के बिना दृश्य भी नहीं दिखाई देता। सम्प्रति बिम्बदर्पण ग्रहण के समान ही सप्र-

पञ्च भान का ग्रहण होता है। निष्प्रतिबिम्ब दर्पण के समान ही निर्दृश्य दृक् अखण्ड भान परमात्मा का ग्रहण होता है। इसकी सिद्धि के लिए परमावश्यक है कि भगवान् का ध्यान किया जाय।

वस्तुस्थिति ऐसी होने पर भी भगवान् परमात्मा के भजन के बिना तत्त्व का अनुभव होना बड़ा कठिन होता है। 'श्रीभागवत' ने भी कहा है कि प्रभु के चरणाम्बुजों के प्रसादलेश से अनुगृहीत प्राणी ही भगवान् की महिमा को जान सकता है, दूसरे लोग चिरकाल तक अन्वय-व्यतिरेकादि युक्तियों से तत्त्वान्वेषण करने पर भी तत्त्व का स्पर्श नहीं कर सकते

"अथापि ते देव पदाम्बुजद्वयप्रसादलेशानुगृहीत एव हि।
जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन् ॥"

जो प्राणी भगवान् की पुण्यगाथाओं का श्रवण करते हुए, अपने अन्तःकरण को पवित्र करते हैं, वे इस सूक्ष्म तत्त्व को जान लेते हैं, जैसे अञ्जनप्रयुक्त चक्षु से सूक्ष्म वस्तु देखी जा सकती है—

"यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः।
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्तम् ॥"

भगवान् के चरणपङ्कज में अनुराग से जब गुण-कर्मजन्य चित्त के मलों का नाश हो जाता है, तब उस विशुद्ध चित्त पर ही भगवान् का उपलम्भ हो सकता है। जैसे निर्दुष्ट चक्षु से सविता का स्पष्ट प्रकाश होता है, वैसे ही निर्दुष्ट अन्तःकरण से परमात्मा का स्पष्ट उपलम्भ होता है—

"यह्यम्बुजनाभचरणैषणयोरुभक्त्या
चेतोमलानि विधमेद् गुणकर्मजानि।

तस्मिन् विशुद्ध उपलभ्यत आत्मतत्त्वं
साक्षाद्यथामलदृशः सवितृप्रकाशः ॥"

इन्हीं सब बातों को समझकर महात्मा तुलसीदास भी कहते हैं कि यद्यपि विश्वप्रपञ्च, माया आदि मिथ्या ही है, तत्त्व सर्वाधिष्ठान निजानन्दात्मा ही है, तथापि बिना भगवान् की आराधना किये अनर्थ का मिटाना अत्यन्त असम्भव है। अतएव प्राणिमात्र के लिए भगवान् का श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक भजन ही परमकल्याण का मूल है। जो रामभजन के बिना कल्याण चाहता है, वह भले ही कितना बुद्धिमान् हो, परन्तु उसे शृङ्ग-पुच्छविहीन पशु ही समझना चाहिये—

"रामभजन बिन गति चहत, अथवा पद निर्वाण।
ज्ञानवान अति सोपि नर, पशु बिनु पूंछ विषाण॥"

भगवान् कृष्ण और उनके परिकर

एकबार जब महाविष्णु सच्चिदानन्द रामचन्द्र द्विज-देव-समुद्धरण की कामना से वन में गये, तब वहाँ मुनियों का दर्शन किया। मुनिलोग उनके रूप को देखकर मोहित हो उठे। वह ऐसा लोकोत्तर स्वरूप था कि खग, मृग, पशु, पक्षी, तरु, लता तक उसके दर्शन एवं स्पर्श से विभोर हो जाते थे। कहा जाता है कि अतिक्रूर प्रकृति के खर, दूषण प्रभृति भी भगवान् के रूप को देखकर मोहित हो गये थे, क्रोधावेश एवं वीररस के उत्तेजक अवसर पर, भगिनी के नाक-कान काटे जाने पर भी रामचन्द्र की मूर्ति को देखकर वे मोहित हो उठे थे। महात्मा तुलसीदासजी के शब्दों में उनका यह कथन था—

"यद्यपि भगिनी कीन्ह कुरूपा; वध लायक नहिं पुरुष अनूपा।"

यद्यपि इन्होंने हमारी बहन के नाक, कान काटकर कार्य बड़ा अनुचित किया है, तथापि इतने अनुपम, सुन्दर पुरुष है कि मारने लायक नहीं है। ठीक है—

"कहहु सखी अस को तनुधारी; जो न मोह अस रूप निहारी।"

पुरुष-सौन्दर्य्यविचारण-परायण नारीवर्ग का मोह होना उचित ही था, परन्तु पुरुष भी, वह भी साधारण नहीं, महानिःस्पृह वनवासी, तपस्वी-मुनिवृन्द भी भगवान् के रूप पर मोहित हो उठा, अपने मोह का संवरण न कर सका और भगवान् के स्पर्श की प्रार्थना करने लगा। ठीक है, पुरुषोत्तम परब्रह्म भगवान् का स्पर्श सभी सहृदयों को अभीष्ट है। परन्तु

वह ब्रह्मसंस्पर्श सहज में प्राप्त नहीं होता, परम तपस्या एवं भक्ति से ही प्राप्त होता है। भगवान् ने कहा—"इस रूप से नहीं, जन्मान्तर में आप सब व्रजाङ्गना बनकर कृष्णरूप में हमारा स्पर्श कर सकेंगे, सब देवता गोपरूप में प्रकट होंगे।" भगवान् के वचन को सुनकर सब प्रसन्न हुए। फिर बहुत काल के अनन्तर साङ्ग, सपरिवार भगवान् का कृष्णरूप में प्राकट्य हुआ। भगवान् का स्वरूपभूत परमानन्द ही 'नन्द' हुए। भगवान् को पुत्ररूप से प्राप्त करके वे सदा आनन्दित रहते थे, इसीलिए वे नन्द कहलाये। मुक्ति देनेवाली ब्रह्मविद्या ही 'यशोदा' कहलायी। यश देनेवाली ब्रह्मविद्या को ही 'यशोदा' कहा गया है—

"यो नन्दः परमानन्दो यशोदा मुक्तिगेहिनी।"

भगवान् की माया सात्त्विकी, राजसी, तामसी-भेद से त्रिविध है। सात्त्विकी माया रुद्र में रहती है, क्योंकि वे रजस्तमोमर्यादि समस्त कार्य के संहारक हैं। सृष्ट्यादि कार्य में निरत ब्रह्मा में राजसी माया है। प्राणिपीड़ाकर होने से दैत्यों में तामसी माया रहती है—

"प्रोक्ता च सात्त्विकी रुद्रे भक्ते ब्रह्मणि राजसी।"

यह वैष्णवी माया अपने अज्ञान से ही प्रसूत होने के कारण पुत्री के समान है। यह ब्रह्मज्ञान के बिना और किसी भी साधन से निवृत्त नहीं हो सकती। कर्मयोग, जपादि से तत्त्व-ज्ञानोत्पत्ति की योग्यता होती है। अविद्या-निवृत्ति तो तत्त्वबोध से ही होती है—

"अजेया वैष्णवी माया जप्येन च सुता पुरा",

"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥"

भगवत्प्रपत्ति अर्थात् भगवत्साक्षात्कृति से ही इस माया का तरण होता है।

ब्रह्मसुता प्रणवविद्या देवकी हुई। निगम अर्थात् समष्टि वेद वसुदेव के रूप में प्रकट हुए और 'तत्त्वं' पद-लक्ष्यार्थ का एकीभावस्वरूप वेदार्थ श्रीकृष्ण एवं बलराम के एकीभावरूप में प्रकट हुआ। सम्पूर्ण वेद सर्वदा जिसका स्तवन करते हैं, वे ही परमात्मा महीतल में अवतीर्ण होकर वृन्दावन में देवतास्वरूप गोपियों के साथ क्रीड़ा करते हैं। नानाप्रकार की श्रुतियाँ एवं वनवासी मुनि आदि भी गायों एवं गोपियों के रूप में हुए। भगवत्स्पर्श के लिए प्राणिमात्र लालायित होते हैं, इसीलिए ब्रह्मा भी मनोहर यष्टि होकर, भगवान् रुद्र सप्तस्वरानुवादी वेणु होकर, इन्द्र गवयशृङ्ग होकर भगवान् के श्रीहस्त में सुशोभित हुए, अघ (पाप) अघासुरादि असुरों के रूप में प्रकट हुए—

"गोप्यो गावो ऋचस्तस्य यष्टिका कमलासनः।
वंशस्तु भगवान् रुद्रः शृङ्गमिन्द्रस्त्वघोसुरः॥"

अजगररूपी अघ वत्स-वत्सपादि सबको निगल गया; उसके उदर में उनके व्याकुल होते ही भगवत्स्मृति से अघासुर का नाश हुआ और फिर उनका रक्षण हुआ, अमृतवर्षिणी भगवत्कृपादृष्टि से मृतप्राय वत्सादिकों का पुनर्जीवन हुआ। वैकुण्ठ गोकुल एवं वृन्दावनरूप में अवतीर्ण हुआ, तपस्वी लोग विविध द्रुमों (वृक्षों) के रूप में प्रकट हुए, लोभ, क्रोधादि अनेक दैत्यों के रूप में प्रकट हुए। उन्हीं लोभादि के कारण प्रभूत कलिकाल से जीव तिरस्कृत होकर दुःख पाता है। श्रीभगवान् अपनी माया से विग्रहधारण करके

गोपरूपधारी हैं। भगवान् का अध्यवसाय दुर्ज्ञेय है, उनकी माया से जगत् मोहित रहता है—

"गोकुलं वनवैकुण्ठं तापसास्तत्र ते द्रुमाः।
लोभक्रोधादयो दैत्याः कलिकालतिरस्कृतः॥
गोपरूपो हरिः साक्षान्मायाविग्रहधारणः।
दुर्बोधं कुहकं तस्य मायया मोहितं जगत्॥"

भगवान् की अघिटितघटनापटीयसी माया देवताओं से भी दुर्ज्ञेय है। बड़े बड़े देवताओं के भी बल एवं ज्ञान को वह क्षण में हरण कर लेती है। उसी के योग से निर्विशेष ब्रह्म गोपाल बने, रुद्र उनकी प्रिय वंशी बने, आदिशेष बलराम हुए, सोलह सहस्र एक सौ आठ उपासना-काण्ड की मन्त्रोपनिषदादि श्रुतियां भगवान् की पत्नियों के रूप में प्रकट हुईं। द्वेष चाणूर, मत्सर मुष्टिक, दर्प कुवलयापीड़ गजेन्द्र, गर्व बक के रूप में प्रकट हुआ, दया माता रोहिणी के रूप में प्रकट हुई, पृथ्वी सत्य-भामा हुई, कलि कंस के रूप में प्रकट हुआ, राम सुदामा, सत्य अक्रूर, दम उद्धव के रूप में प्रकट हुआ। दुग्धसिन्धु में समुत्पन्न शंख लक्ष्मी-सोदर होने से लक्ष्मीरूप है और वह विष्णुस्वरूप है। दुग्ध सिन्धु में उत्पन्न मेघघोष ही शंखघोष है। गोपियों के गृहों में दुग्ध-दधि के भाण्डों को फोड़ने से उद्भूत दधि-दुग्धप्रवाह से ही क्षीरसागर, दधिसागर उद्भूत हुए। भगवान् उन्हीं अपूर्व दुग्ध-दधि-समुद्रों में बालक होकर प्रतिगृह में खेलते थे—

अष्टावष्टसहस्रे द्वे शताधिक्याः स्त्रियस्तथा।
ऋचोपनिषदस्ता वै ब्रह्मरूपा ऋचः स्त्रियः॥

द्वेषश्चाणूरमल्लोऽयं मत्सरो मुष्टिको जयः।
दर्पः कुवलयापीडो गर्वो रक्षः खगो बकः।
दया सा रोहिणी माता सत्यभामा धरेति वै॥
अघासुरो महाव्याधिः कलिः कंसः स भूपतिः।
शमो मित्रः सुदामा च सत्याक्रूरोद्धवो दमः॥
यः शङ्खः स स्वयं विष्णुर्लक्ष्मीरूपो व्यवस्थितः।
दुग्धसिन्धौ समुत्पन्नो मेघघोषस्तु स स्मृतः॥
दुग्धोदधिः कृतस्तेन भग्नभाण्डो दधिग्रहे।

धर्मशत्रु दैत्यों के नाश एवं साधुओं के परित्राणार्थ ही भगवान् का प्रादुर्भाव होता है। ईश्वरनिर्मित ब्रह्मस्वरूप जगत् ही भगवान् का चक्र है। भगवान् के आविर्भाव-काल का मुख्य प्राणवायु ही धर्मसंज्ञित चमर है, अग्नि जिसका आभास है, वह महेश्वर ही भगवान् का खड्ग है—

"यस्सृष्टमीश्वरेणासीत् चक्रं ब्रह्मस्वरूपधृक्।
जयन्तीसम्भवो वायुश्चमरो धर्मसंज्ञितः।
यस्यासौ ज्वलनाभासो खड्गरूपो महेश्वरः॥"[१]

देवपिता कश्यप भगवान् से सम्बद्ध होने के लिए उल्लूखलरूप में प्रकट हुए। देवमाता अदिति रज्जुरूप में प्रकट हुईं। उसी से नन्दरानी ने कृष्ण को बाँधा था। समस्त प्राणियों के मूर्धा में सहस्रारचक्र है। उसमें निर्विकल्परूपिणी सिद्धि एवं तुरीयसाक्षात्काररूपी बिन्दु भी शंख-चक्र-रूप में मान्य है। एक भगवान् ही सर्वरूप से स्थित हैं, ऐसा जानकर योगी लोग भगवद्भावना से सब को नमन करते हैं—

"ईश्वर जीवकलया प्रविष्टो भगवान् स्वयम् ।
प्रणमेद् दण्डवद् भूमावाश्वचाण्डालगोखरम् ॥"

सर्वशत्रु निबर्हिणी साक्षात् कालिका भगवान् की गदा है। उनकी माया ही शार्ङ्ग धनुष है। माया, अविद्या, षड्ऋतु काल भगवान् का भोजन है, क्योंकि अविद्या-तत्कार्य का ग्रास करनेवाले भगवान् ही हैं—

"कश्यपोलूखलः ख्यातो रज्जुर्मातादितिस्तथा ।
चक्रं शङ्खश्च संसिद्धि बिन्दुश्च सर्वमूर्धनि ॥
गदा च कालिका साक्षात् सर्वशत्रुनिर्बर्हिणी ।
धनुः शार्ङ्गं स्वमाया च शरत्कालः सुभोजनः ॥"

अनन्तकोटिब्रह्माण्डबीज अविद्याण्ड भगवान् के हाथ में कमल है। घटीयन्त्रस्थ घटमालिका-जाल के समान अनन्तकोटिब्रह्माण्ड भगवान् के हाथ हैं। गरुड़ ही भाण्डीरवट, नारदमुनि सुदामा के रूप में प्रकट हुए हैं, नारद धर्मरूप है, अतः पूर्वोक्ति से विरोध नहीं है। भगवद्भक्ति वृन्दा है, भगवद्भिन्न कोई वस्तु नहीं है ऐसे ज्ञान का प्रकाशन करनेवाली बुद्धि ही भगवान् की क्रिया है। इस तरह शुद्ध भगवत्तत्त्व ही साङ्गोपाङ्ग मूर्ति में भक्तानुग्रहार्थ अवतीर्ण हुए हैं—

"अब्जकाण्डं जगद्बीजं धृतं पाणौ स्वलीलया ।
गरुडो वटभाण्डीरः सुदामा नारदो मुनिः ।
वृन्दा भक्तिः क्रिया बुद्धिः सर्वजन्तुप्रकाशिनी ।"

———

रामराज्य

भगवान् मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र के शासनकाल में सभी वृक्ष सुन्दर पत्र, पुष्प, फल, पल्लवों से सुशोभित रहते थे। पृथ्वी पर अनन्त धन-धान्य भरपूर रहता था। प्राणियों के जीवन पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदि परिवारों से सनाथ थे। सभी की विरहक्लान्ति -मनोऽनुकूल कान्तसंयोग जन्य सौख्यों से उपक्षीण थी। श्रीरघुनाथ जी के पादपद्म की शुश्रूषा प्राणिमात्र को रहती थी। लोगों के वाग्व्यवहारों में परनिन्दा की रुचि का प्रसंग कभी आता ही न था। पापों की भी पाप में मानसी प्रवृत्ति का होना कठिन हो गया था। सीतापति श्रीरामचन्द्र के अमृतमय मुखचन्द्र के दर्शन के लिए सभी के लोचन चकोर के समान आसक्त रहते थे। कारुण्यरस से नरनारीवृन्द परिपूरित रहता था। इन्हीं कारणों से कुटुम्बियों में रोगों का आक्रमण भी नहीं होता था। अकालमरण होता ही नहीं था। शलभ, मूषक, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि भय का तो लेश भी न था। परस्पर वैर न होने से वैरभय का अभाव ही था। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र का वह राज्य सदा ही निष्कण्टक और निःसपत्न रहा। समस्त राष्ट्र ऋषियों, मुनियों तथा धर्मनिष्ठ हृष्ट-पुष्ट, रम्य मणिरत्नादिभूषित सत्पुरुषों से भूषित था। व्रीहि, यव आदि सस्यों से परिपूरित क्षेत्रों से युक्त तथा समृत स्वस्थ मनुष्यों और गोधनों से सुशोभित अयोध्या का साम्राज्य अद्वितीय ही था। नाना देवमन्दिरों तथा समृद्धियों से ग्राम शोभा पा रहे थे। शोभन पुष्पों से युक्त बड़े सुन्दर कृत्रिम उद्यानों से

मधुर स्वादवाले फलों से युक्त नानाप्रकार के वृक्ष थे। कमल-कमलिनी तथा कुमुद-कुमुदिनियों से युक्त सरोवर निराली ही शोभा बढ़ाते थे। नदियाँ सदम्भा (निर्मल जलवाली) होती थीं। जनता में दम्भ का स्पर्श न था।

विभ्रम शब्द के प्रयोग का स्थान युवतियों का कटाक्ष ही था, विद्वानों में विभ्रम का लेश न था। कुटिलगामिनी केवल नदियाँ ही थीं, प्रजा अत्यन्त ऋजुमार्गगामिनी थी। तम का व्यवहार कृष्णपक्ष की रात्रियों के सिवा कहीं भी पुरुषों में न था। रजशब्द भी रजस्वला के रज में ही प्रयुक्त होता था, मनुष्यों में रजोगुण का अभाव ही था। दण्ड भी आतपत्रों में या यतियों के हाथ में ही देखा जाता था, कोई भी प्राणी ऐसा कार्य ही नहीं करते थे, जिनके लिए दण्ड की आवश्यकता पड़े। जड़ की वार्ता घनीभूत जल में ही थी। दौर्बल्य स्त्रियों के कटिभाग में ही था। कठोरहृदय (स्तनवाली) सीमन्तिनियाँ ही थीं। कोई भी पुरुष कठोरहृदय (निर्दय) नहीं था। औषधि के योग में ही कुष्ठ का योग था। मूर्तियों के हाथ में ही शूल था, किन्हीं जन्तुओं के यहाँ किसी प्रकार के शूल की चर्चा नहीं थी। कम्पन केवल प्रेमादि सात्त्विक भावों में था, किसी प्रकार के भय से किसी को कम्पन कभी नहीं होता था।

ज्वर केवल काम से ही होता था। दरिद्रता केवल पाप की ही थी। दुर्लभता कापुरुषों की ही थी। प्रमत्त हस्ती ही थे, पुरुषों में प्रमाद का नाम भी न था। दान (मद) च्यवन हस्तियों में ही होता था, पुरुष कभी दानहीन नहीं होते थे। तीक्ष्णता कण्टकों में ही थी, पुरुषों में तीक्ष्णता का स्पर्श भी न था। गुणों का विश्लेष सिवा वापी मनुष्यों

में कहीं भी न था। दृढबन्धन शब्द पुस्तकवेष्टन में ही था, प्राणियों के बन्धन की कोई चर्चा न थी। खलों में ही स्नेहप्रयास था न कि स्वजनों में।

ऐसे सुन्दर राज्य में आसीन होकर श्री रामचन्द्र प्रजाओं का पालन करते थे। उनके गुप्तचर नियम से समस्त राष्ट्र की भावनाएं जानने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। एक दिन गुप्तचर सुनते हैं कि कोई एक मृगलोचनी युवती अत्यन्त हर्ष से अपने स्तनन्धय पुत्र से कहती है कि 'पुत्र! अतिमनोहर मेरे स्तन्य (दुग्ध) को खूब पान कर लो। अब यह पयोधर-पान दुर्लभ हो जायगा, क्योंकि अयोध्यानाथ, नीलाम्बुजश्यामल रामचन्द्र की पुरी में जन्म ग्रहण करके फिर प्राणियों का जन्म नहीं होता। अतः जो जन्महीन होगा वह पयोधरपान कैसे करेगा? और जो प्राणी श्रीरामचन्द्र का स्मरण और ध्यान करेंगे। उनके लिए भी यह पयःपान दुर्लभ ही होगा।'

ऐसे ही किसी दूसरे मनोहर गृह के पास भी गुप्तचर लोग सुनते हैं कि एक अत्यन्त सुन्दरी बाला स्नेहपूर्वक अपने पति से दिये हुए ताम्बूल का चर्वण करती हुई, अनेकविध भूषण, वसन से सुशोभित वह युवती नयनों को नचाकर अपने परममनोहर पति से कहती है—'देव! आप मुझे ऐसे प्रिय लगते हैं, जैसे रामचन्द्र। अत्यन्त सुन्दर और कोमल अङ्ग तथा अपाङ्ग और विशाल वक्षःस्थल भूषणों से युक्त बाहुसहित श्रीरामजी की तरह मुझे प्रतीत होते हैं।" इस प्रकार कान्ता के वचनामृत पानकर काम के समान अतिसुन्दर नायक ने कहा—'प्रियतमे! यह तुम्हारा कथन साध्वी पतिव्रताओं के अनुरूप है। वस्तुतः कहाँ मैं और कहाँ

अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक भगवान् रामचन्द्र ? कहाँ मैं साधारण जन्तु और कहाँ ब्रह्मादिदेववन्दित भगवान् राम ? कहाँ खद्योत और कहाँ पूर्णचन्द्र ? कहाँ मृगेन्द्र और कहाँ शशक ? कहाँ जाह्नवीजल और कहाँ गलियों का जल ? किन्तु वेदान्तवेद्य श्रीराम के पद-पङ्कज-रज से शिलाभूता अहिल्या भी तर गयी।" यह सुनते ही प्रेमोद्रेक में नायिका भ्रुकुटी नचाकर अपने सर्वस्व से लिपट गयी।

ऐसे ही कहीं दूसरे स्थल में कोई कान्ता पुष्पमयी शय्या का निर्माण करके तथा चन्दन-ताम्बूलादि सम्भोग-सामग्रियों को रख करके पति से कहती है कि 'प्रियतम ! श्रीरामकृपा से प्राप्त इन अनेकविध भोगों का उपयोग करें। मुझसी कामिनी और तापहारक चन्दन तथा पुष्परचित सुन्दर पर्यङ्क यह सभी श्रीरामकृपा का फल है। जो प्राणी भगवान् रामचन्द्र से पराङ्मुख हैं, वे भूषण-वस्त्रादि सर्व सम्भोगसामग्रियों से रहित रहकर अपना उदरपोषण करने में भी असमर्थ होते हैं।' कोई कान्ता अपने कान्त के साथ पर्यङ्क पर वीणावादन करती हुई श्रीराम की सत्कीर्ति का गायन करती है और कहती है कि 'स्वामिन् ! हम सब धन्यतम हैं, जो कि हमारी पुरी के पति श्रीरामचन्द्र अपनी प्रजा का पालन पुत्र की भाँति करते हैं, जिन्होंने अतिदुःसाध्य समुद्र को बाँध दिया और रावण को मारकर श्रीजानकी को ले आये।' अपनी प्रियतमा के ऐसे वचनामृत को श्रवण करके पति ने हँसकर कहा — 'मुग्धे ! रावणवध और समुद्रनिग्रहादि श्रीरामचन्द्र के लिए कोई दुर्गम नहीं है। यह तो ब्रह्मादि देवताओं की प्रार्थना से अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक परमात्मा ही नररूप में अवतीर्ण हैं और अपनी लीलाशक्ति से

ही समस्त ब्रह्माण्ड का उत्पादन, पालन तथा संहार करते हैं। हम सब धन्य हैं जो श्रीराम के मुखपङ्कज का दर्शन करते हैं।"

ऐसे ही किसी अन्य गृह में कोई कान्ता अपने कान्त के साथ द्यूत-क्रीड़ा करती हुई कहती है कि "प्रियतम! मैंने तो सब जीत लिया, अब क्या करोगे?" ऐसे परिहासपूर्ण वाक्य को श्रवण करके कान्त ने कहा—"राम को स्मरण करते हुए मेरा पराजय कभी भी नहीं हो सकता। अभी मैं मनोहर अपने प्रियतम राम का स्मरण करके तुम्हें जीत लेता हूँ।" ऐसा कहते हुए पासा फेंककर प्रियतमा को जीत करके कहता है—"देखो, राम का स्मरण करनेवाले का क्या कभी पराजय हो सकता है?"

राजधर्म की ओर ध्यान देने से विदित होता है कि निखिलब्रह्माण्ड-पालक विष्णु ही लोकपाल, महेन्द्र, वरुण, कुबेर, यम प्रभृतियों के सहित अंश से पृथ्वीपति के रूप में प्रकट होते हैं और वही राजपरम्परा में प्रकट होकर प्रजारक्षण करते हैं। वेन की उद्दण्डता से असन्तुष्ट होकर महर्षियों ने वाग्दण्ड से उसे दग्ध कर डाला। बाद में जब अराजकता फैल गयी, तब पुनः महर्षियों ने उसी वेन के अङ्ग का मन्थन करके उसी में से पृथु को प्रकट किया था। क्या उस समय और कोई राजा बनाने योग्य न था? परन्तु वहाँ तो उस परम्परा का ही प्रश्न था। यह आज भी देखा ही जाता है। जो कुलीन राजा हैं, उनकी और स्थिति होती है और जो ऐसे नहीं हैं, उनकी स्थिति और ही होती है।

वास्तव में ऐश्वर्य के प्रलोभन में प्राचीन राजाओं की शासन में प्रवृत्ति नहीं होती थी। अतएव शासनभार अजितेन्द्रिय के लिए दुर्वह समझा जाता था। कितनी ही बार राजर्षिगण यह समझकर साम्राज्य ब्राह्मणों के

चरणों में समर्पण कर देते थे कि प्रजा की सम्पत्ति का दुरुपयोग हम-लोगों के सम्भोग में हो जाता है। जैसे सूर्य अपनी तिग्मरश्मियों से पृथ्वी से जल खींचते हैं, परन्तु उसका लेश भी अपने लिए नहीं रखते। समय पर प्रजा को प्रदान करने के लिए ही वह समस्त व्यापार होता है,—वैसे ही नरपति अपने सम्भोग के लिए प्रजा से कर-ग्रहण नहीं करता, अपितु प्रजा की ही सेवा करने के लिए यह सब कुछ होता है। ये ब्राह्मण-गण परमवीतराग हैं, अन्न फल-मूलभक्षण, वल्कल-वसन-धारण करते हैं। इसीलिए ये सतत प्रजा के कल्याण की बात सोचते रहते हैं। अतः यदि वे पृथ्वी का पालन करें, तो प्रजा को बहुत लाभ और सन्तोष होगा। परन्तु ब्राह्मण गण भी यही समझते हैं कि हम तपस्या द्वारा कहीं अधिक प्रजा का पालन कर सकते हैं।



—:o:—

वैदिक धर्म

सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान् परब्रह्म परमात्मा अनादि जीवों के कर्मों के अनुसार सृष्टि रचकर उनके कल्याणार्थ अनादि वेदों को व्यक्त करते हैं। कहना न होगा कि जैसे जागने और सोने की परम्परा अनादि है, वैसे ही सृष्टि और प्रलय की परम्परा भी अनादि ही है। जैसे जागने के उपरान्त प्राणियों की चेष्टाएँ उन चेष्टाओं से सम्बद्ध होती हैं, जो सोने के पहले थीं, वैसे ही सृष्टि के बाद की समस्त जीवचेष्टाएँ प्रलय से प्रथम की चेष्टाओं से असम्बद्ध नहीं रहतीं। किसी भी राजा या नियन्ता की प्रजाओं या नियम्यों पर शासन करने के लिए एक शासनपद्धति अपेक्षित होती है। कालपरिच्छिन्न सादि राजा की प्रजाशासन (निग्रहानुग्रह) पद्धति कालपरिच्छिन्न ही होती है। परन्तु जहाँ सनातन, अनादि परमेश्वर को अनादि जीवरूप प्रजा पर शासन करना है, वहाँ तो शासनपद्धति भी सनातन एवं अनादि ही होनी चाहिए। अल्पज्ञ राजा को समस्त देश, काल, परिस्थितियों का बोध नहीं रहता, अतः जैसे-जैसे ज्ञान होता जाता है, वैसे वैसे उसके नियमों में परिवर्त्तन होता है। परन्तु, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिसम्पन्न भगवान् को तो समस्त देश, काल, परिस्थितियों का विज्ञान रहता है, अतः उनकी शासन या निग्रहानुग्रह-पद्धति अभ्रान्त और अपरिवर्त्तनीय होनी ही चाहिए। वही ईश्वरीय शासनपद्धति हमारे वेद हैं। उनमें भिन्न-भिन्न देश काल, परिस्थितियों का स्वयं ध्यान रखा गया है। उसी की सीमा के भीतर ही महर्षियों की भिन्न-भिन्न स्मृतियाँ निर्मित

हुई हैं। वेद ईश्वर के समान ही अपौरुषेय और अनादि हैं। जैसे प्राणी का प्राण के साथ अविच्छेद्य सम्बन्ध है, वैसे ही परमेश्वर का उसके निःश्वासभूत वेद के साथ सम्बन्ध है। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता का भी वेदों के निर्माण में नहीं, किन्तु वेदार्थ-विचार में ही उपयोग होता है। वेद निःश्वास की तरह प्रयत्न-निरपेक्ष और अकृत्रिम है। वे पौरुषेय अर्थात् स्वतन्त्र-पुरुषबुद्धिप्रसूत नहीं हैं। अतएव पुरुषाश्रित भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि दोषों से दूषित नहीं, अतएव अप्रामाण्य-शङ्का-कलङ्क का उनमें स्पर्श भी नहीं है। इसलिए उनका स्वतन्त्र प्रामाण्य है।

मन्त्र ब्राह्मणात्मक वेदों में भले ही अनेकों लौकिक, पारलौकिक आख्यानों तथा विविध आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक तत्त्वों का वर्णन हो, फिर भी उनका अवान्तर तात्पर्य कर्म तथा उपासनाओं और महातात्पर्य सर्वाधिष्ठान शुद्ध परब्रह्म परमेश्वर में ही है। आनुषङ्गिकरूप से नैतिक, आर्थिक, विविध लौकिक-पारलौकिक कर्मों, इतिहासों, आख्यानों एवं आविष्कारों का अवगम भी उनसे अवश्य ही होता है। परन्तु वही परमार्थतः वेदार्थ है यह मनु, वशिष्ठ, व्यास, जैमिनी, कात्यायन, शबर, शङ्कर, कुमारिल, मण्डन, वाचस्पति, सायणादि की वैदिकी दृष्टि से अत्यन्त विरुद्ध है। वस्तुतः प्राणियों के जीवन के अवान्तर उद्देश्य और महोद्देश्य की पूर्ति में जो जो भी उपाय कर्म, ज्ञानादि आवश्यक हैं, उन सभी का प्रतिपादन वेदों में मिल सकता है। विशिष्ट प्राणी को आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति एवं परमानन्द की प्राप्तिस्वरूप मोक्ष या भगवत्प्राप्ति की अपेक्षा होती है। साधारण प्राणी

को विविध प्रकार के वैषयिक सुख और उसके साधनों की अपेक्षा होती है। इसी को धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप चार पुरुषार्थ कह सकते हैं। लौकिक वैषयिक सुखभोग और उसकी विभिन्न सामग्रियां अर्थ और काम में आ जाती हैं। आधुनिक भौतिक विज्ञान और उसकी चमत्कृतियां भी अर्थ और काम के भीतर आ जाती हैं। इन्हीं के लिए नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, आयुर्वेद, रसायनशास्त्र, गन्धर्वशास्त्र, सङ्गीत कामशास्त्र आदि अनेक शास्त्र आवश्यक होते हैं। इन सब का उद्गम वेदों से ही है। लौकिक विविध विचित्र आनन्दों एवं आनन्द-सामग्रियों में भी धर्म अपेक्षित होता है। इसके अतिरिक्त धर्म के ही प्रभाव से विविध लौकिक उपाय और उनकी सफलता प्राप्त होती है। परन्तु लौकिक सुख और तत्साधनीभूत धर्म, मोक्ष और तदुपयुक्त निष्काम कर्म उपासनाएं, तत्त्वज्ञान आदि का, जिनमें कि विशेष रूप से वेदों का तात्पर्य है, अवगम तो वेदों से ही होता है। अतः सनातन परमेश्वर के सनातन अंशभूत जीवों को सनातन परमपदप्राप्ति के लिए वेद-प्रतिपादित सनातन मार्ग ही सनातन 'वैदिक' धर्म है।

सर्वाधिष्ठान, स्वप्रकाश, परमानन्दघन भगवान का ही अंशभूत चेतन, अमल, सहज सुखस्वरूप जीवात्मा अनादि काल से मल, विक्षेप और आवरणरूप दोषों से संसृष्ट होकर अनेकानर्थपरिलुप्त विविध योनियों में परिभ्रमण करता है। जन्मजन्मान्तरों के सुकृतसञ्चय से अनुकूल होकर भगवान् जब मानवजन्म प्रदान करते हैं, तभी उसे आत्मोद्धार की सुविधा होती है। उसमें वैदिकधर्म के अनुकूल वातावरण देश काल सत्पुरुष-समागम सच्छास्त्र-सम्बन्ध अधिक सहायक होते हैं। वेदों का

कहता है कि मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् पुरुष ही वैदिक धर्मरहस्य को जान सकता है — "मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद।"

अर्थात् प्रशस्त आचार-विचार वाली माता का सद्भावना, आचरण एवं उपदेशों से शिक्षित तथा पिता के आचारों एवं उपदेशों से विनीत, आचार्यवान् पुरुष ही तत्त्व को जान सकता है। इन्हीं सब बातों का ध्यान रखकर वैदिक लोग गर्भाधान से ही संतान का संस्कार प्रारम्भ करते हैं। सद्धर्म कर्मपरिनिष्ठित माता-पिता द्वारा सद्भावना के साथ विधिवत् गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, चौलकर्म मौञ्जी-बन्धनादि संस्कारों से सन्तान के शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरण वैसे ही पवित्र होते हैं, जैसे खान से उत्पन्न मणि संस्कार द्वारा निर्मल होकर दीप्त होती है। उसमें भी अधिक प्रभाव माता-पिता के आचरणों और भावनाओं का पड़ता है। इस तरह प्रशस्त माता-पिता की शिक्षा से शिक्षित होकर पुनः प्रशस्त आचार्य से उपनीत होकर गुरु और अग्नि की शुश्रूषा, भूमि शयन, ब्रह्मचर्यव्रत पालन करता हुआ बालक शौच, आचार आदि शिक्षण-पूर्वक चारो पुरुषार्थों के परमकारण दिव्य वेदादि सच्छास्त्रों के जानने में प्रवृत्त होता है। पवित्र आचार-विचारसम्पन्न सहज कोमल हृदय में दिव्य, अभ्रान्त ज्ञान के सुस्थिर संस्कार होने पर सभी पुरुषार्थों की प्राप्ति में सुविधा मिलती है। सद्बुद्धि, सदिच्छा एवं सत्प्रयत्नों से प्राणी दुर्गम से दुर्गम कार्यों को कर सकता है। कहा जाता है कि प्राणी अपने भाग्य का विधाता स्वयं हो सकता है। जैसे पुरुषों का सहयोग, जैसे श्रद्धेयों का सेवन किया जाता है, श्रद्धासम्पन्न पिघली हुई लाख की तरह कोमल चित्त में वैसी ही भावना बनती है। जैसी ज्ञानभावना होती है,

वैसी ही प्राणी की इच्छा होती है। इच्छा के अनुसार उत्कट उत्कण्ठा-पूर्वक प्रयत्न से वैसा ही हो सकता है। परन्तु इसके लिए श्रद्धेय उत्तम पुरुषों के समागम, सेवन सदिच्छा और सत्प्रयत्न की अपेक्षा है। उससे ही राष्ट्र में सौमनस्य, सङ्घटन आदि सब कुछ सम्पन्न होता है और समाज, राष्ट्र एवं विश्वमें सर्वत्र अभ्युदय और शांति स्थापित होती है।

विधिपूर्वक साङ्ग वेदादि शास्त्रों का ग्रहण, धारण, अर्थज्ञान सम्पादन करने के उपरान्त प्राणी को सर्वबन्धनविनिर्मुक्त होकर सर्वान्तरात्मा भगवान् के मङ्गलमय श्री अंक में समासीन होने के लिए अपने आप को शुद्ध करना चाहिए। परन्तु इसमें मल विक्षेप और आवरण प्रतिबन्धक हैं। कर्मकाण्ड से मल की, उपासना काण्ड से विक्षेप की और ज्ञानकाण्ड से आवरण की निवृत्ति होती है। इसलिए प्रथम शास्त्रानुसार विवाह करके अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य ज्योतिष्टोम आदि कर्मकलापों द्वारा पितृदेवादिरूप में अनेकधा विराजमान भगवान् की आराधना करके दिव्य पुण्य या अदृष्टों से अपने पापों का प्रक्षालन करना चाहिए। इन कर्मों का कामनासहित अनुष्ठान करने से पशु, पुत्र, धन, ग्राम, स्वराज्य, स्वर्ग आदि फलों की प्राप्ति होती है। निष्काम भाव से, भगवच्चरणाम्बुजसमर्पणबुद्धि से उन्हीं कर्मों का अनुष्ठान करने से अन्तःशुद्धि और ज्ञानादिक्रमेण भगवत्प्राप्तिरूप दिव्य महाफल प्राप्त होता है। फिर भी जैसे गुरुच-पान का रोगनिवृत्ति ही मुख्य फल है, वैसे ही अन्तःकरणशुद्धि, ज्ञानक्रमेण भगवत्प्राप्ति ही कर्मों का मुख्य फल है। इतर फल तो वैसे ही केवल रोचनार्थ हैं, जैसे कडुआ गुरुच पान कराने के लिए कल्याणमयी, करुणमयी पुत्रवत्सला जननी अपने

शिशु को लड्डू का प्रलोभन देती है और पी लेनेके बाद मोदक दे भी देती है। वह अदर्घदर्शी बालक गुरुचपान का फल लड्डू समझता है, परन्तु माता तो रोगनिवृत्ति को ही मुख्य समझती है। सर्वदृश्यविवर्जित स्वप्रकाश परमानन्दघन भगवान् का उपलम्भ (प्राप्ति) देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि अहङ्कार के अत्यन्त प्रशान्त, निर्मल, निर्वृत्तिक होने पर ही होता है। परन्तु प्रथम उनकी निर्वृत्तिकता होनी सहसा असम्भव है, अतः पहले सात्त्विक, सरल प्रवृत्तियोंका अवलम्बन करके राजसी, तामसी उच्छृ-ङ्खल प्रवृत्तियों का रोकना अपेक्षित होता है। अनन्तर अन्तरङ्ग-अन्तरङ्ग सात्त्विक प्रवृत्तियों से बहिरङ्ग बहिरङ्ग सात्त्विकी प्रवृत्तियों का भी निरोध किया जाता है। अन्त में सर्वान्तरङ्ग मन, बुद्धि की सात्त्विकी प्रवृत्ति "विषं विषान्तरं जरयति, स्वयमपि जीर्य्यति", (एक विष दूसरे विष के प्रभाव को शान्तकर स्वयं शान्त हो जाता है) इत्यादि न्याय से स्वपरविरोधिनी अन्तिम चरमावृत्ति से शान्त होकर पूर्ण निर्वृत्तिकता होने पर प्रत्यक्चैतन्याभिन्न, स्वप्रकाश परमात्मस्वरूप की अवगति और तदात्मना अवस्थिति होती है। यही श्रौतस्मार्त्त शृंखलानिबद्ध देहेन्द्रिय मन, बुद्धि, अहंकारादि की चेष्टाओं से अर्थात् श्रौतस्मार्त्त काम, कर्मों एवं ज्ञानों से स्वाभाविक काम-कर्म ज्ञानरूप मृत्यु का अतितरण है...

"अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा।"

जिस समय प्राणी की समस्त चेष्टाएं शास्त्र परतन्त्र होने लगती हैं, उस समय उच्छृङ्खल पाशविकी चेष्टाओं का लोप होता ही है। वैदिक सिद्धान्त में स्वप्रकाश परमानन्द भगवान् की प्राप्ति का मुख्य उद्देश्य है। उसकी पूर्ति के लिए सामाजिक, नैतिक, आर्थिक विविध कर्मों की

अपेक्षा होती है। यदि भगवान् का स्मरण करते हुए भगवदाराधनार्थ भगवत्समर्पणबुद्धि से लौकिक, पारलौकिक सभी कर्मों का अनुष्ठान किया जायगा, तो अन्तःशुद्धिक्रमेण उपासना का भाव बढ़ेगा और फिर कर्माङ्ग उपासनाओं में या उपासनाप्रधान कर्मों में प्रवृत्ति होगी। उपासना में ही मूर्त्तिपूजा, सगुण साकार राम, कृष्ण, विष्णु, शिव, शक्ति, गणपति, सूर्य्य आदि पञ्चदेवताओं की आराधनाएं अन्तर्भूत हो जाती हैं। इन उपासनाओं से अन्तःकरण की निर्मलता होती है और विक्षेप, चञ्चलता निवृत्ति होती है। भगवान के विशेषानुग्रह से तत्त्वसाक्षात्कार एवं आवरणनिवृत्ति में बड़ी ही सुविधा होती है। भगवान् के परमाकर्षक, मधुर, मनोहर, मङ्गलमय स्वरूप में सहज ही मन की एकाग्रता हो जाती है। इसके अतिरिक्त सगुण निराकार, एवं निर्गुण-निराकार की भी उपासनाएं होती हैं। उनसे तत्त्वसाक्षात्कार का प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। इस तरह कर्म एवं उपासना से मल और विक्षेप मिटा देने के अनन्तर आवरण मिटाने के लिए ज्ञान की अपेक्षा होती है। नित्यानित्य-वस्तुविवेकी, शान्त, दान्त, उपरत तितुक्षु, श्रद्धावान्, समाहित एवं तीव्रमुमुक्षासम्पन्न होकर वेदान्तों का श्रवण करना चाहिए। इसके अनन्तर तर्कशास्त्र की सहायता से मनन और योगशास्त्र की सहायता से निदिध्यासन करके तत्त्वसाक्षात्कार द्वारा आवरणभङ्ग करना चाहिए। बस, फिर तो वह प्रत्यक्चैतन्याभिन्न शुद्ध ब्रह्मात्मभाव में ही स्थिर होता है और सब का अन्तरात्मा होकर सब को अपने ही में देखता है। उसका व्यष्टिभाव —परिच्छिन्नता का अभिमान—मिट जाता है। वह सब का और सब उसके हो जाते हैं। ज्ञानियों का 'सर्वभूतहिते रतः' होना स्वाभाविक लक्षण है।

जगत् में एक दूसरे के साथ अनिवार्य सबन्ध एवं उपकार्य्य-उपकारकभाव है। यह कोई भी नहीं कह सकता कि हम स्वतंत्र हैं, हमें किसी की अपेक्षा नहीं है। भगवान् के आकाश, वायु, तेज, जल, भूमि अन्न के बिना किसी का भी काम नहीं चल सकता। इस तरह प्राणी पर अनेकों के उपकार का ऋण रहता है। समस्त विश्व के प्रति जैसे परमेश्वर की कारणता है, वैसे ही शुभाशुभ कर्मों एवं अदृष्टों द्वारा जीवों की भी कारणता है। जिन वस्तुओं या जिन देहियों से जिस को, जितने अंशोंमें सुख पहुंचता है, उतने अंशों में वे उनके शुभ कर्मों के फल हैं। जितने अंशों में, जिनसे, जिनको दुःख पहुंचता है, उतने अंशों में वे उनके अशुभ कर्मों के फल हैं। एक ही वस्तु या व्यक्ति से बहुतों को सुख और बहुतों को दुःख पहुंचता है और कभी देशकाल-भेद से एक व्यक्ति को भी सुख-दुःख पहुंचता है। इस तरह अनेकों प्राणियों के शुभाशुभ कर्मों से एक ही वस्तु का निर्माण होता है। अतः प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सर्वत्र सब का सम्बन्ध है, अतएव श्रौतस्मार्त्त यज्ञों द्वारा देवताओं का, वेदादि शास्त्रों के स्वाध्याय द्वारा ऋषियों का, श्राद्ध-तर्पण सन्तानोत्पादनादि द्वारा पितरों का तर्पण किया जाता है। बलि-वैश्वदेव, अतिथिसत्कार द्वारा सर्वभूतों को सन्तुष्ट किया जाता है। इस तरह पारस्परिक सद्भावना और सौहार्द उत्पन्न होकर सामाजिक, साहित्य तथा अन्ताराष्ट्रिय भावों का संघटन और सामञ्जस्य होता है। सर्व विश्व का धारक-पोषक होने से धर्म में 'धारणाद्धर्मः' यह परिभाषा चरितार्थ होती है। इसका क्षेत्र इतना व्यापक है कि इसमें लौकिक, पारलौकिक, आर्थिक नैतिक सभी कर्म आ जाते हैं। संध्यावंदन, तर्पण श्राद्ध, बलि-वैश्वदेव, अतिथि-

संस्कार आदि कर्मों से भाव शुद्धि, शक्ति और तेज की वृद्धि होती है। जैसे किसी भी यन्त्र के सञ्चालन से उसके मार्जन, प्रक्षालन आदि की अपेक्षा होती है, क्योंकि वैसा न होने से उसके नष्ट या विकृत हो जाने की सम्भावना होती है वैसे ही विविध व्यापारों से श्रान्त एवं मलिन देह इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार का मार्जन एवं प्रक्षालन करके उन्हें दव्य शक्ति और तेज से सम्पन्न करके लौकिक पारलौकिक कार्य्यकरणक्षम बना देना यह भी कार्य इन्हीं कर्मों का है। आत्मयाजी समस्त कर्मों का अनुष्ठान आत्मसंस्कारार्थ ही करता है। शौच, सन्तोष, स्वाध्याय, तप, ईश्वर प्रणिधान, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इन यम-नियमों की बड़ी ही महत्ता और आवश्यकता है।

"यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।"

इस भगवदुक्ति के अनुसार लौकिक, वैदिक समस्त कर्मों का भगवदर्पणबुद्धि से अनुष्ठान करने पर व्यवहारों और भावों की शुद्धि होती है। जब सभी कर्मों को भगवान् में अर्पण करना है तब उनकी शुद्धि पर अधिक ध्यान रहेगा। भगवान् को अशविश्र कर्म न समर्पित हों इसलिए सदा शास्त्रपरिशोधित ही कर्मों का अनुष्ठान किया जायगा। लौकिक, पारलौकिक, नैतिक धार्मिक, आर्थिक सभी कर्मों में धर्म-अधर्म का समावेश रहता है। निति और धर्म का क्षेत्र पृथक्-पृथक् न होने से धर्म की परिभाषा ही हमारे यहां यह है कि वेदादिशास्त्र के अनुकूल देह, इन्द्रिय मन, बुद्धि अहंकार की चेष्टाएं अर्थात् हलचलें धर्म और उसके विपरीत चेष्टाएं अधर्म हैं—

"चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः"

"तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ।

ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥"

धर्म की रक्षा के लिए यथावसर सिद्ध ज्ञानी और उनके ध्येय, ज्ञेय परमाराध्य परमतत्त्व भगवान् अवतार ग्रहण करते हैं।

सामान्यरूप से कर्मयोग (प्रवृत्ति मार्ग) और सांख्योग (निवृत्तिमार्ग) में ही समस्त वेदों का तात्पर्य है—

"द्वाविमावथ पन्थानौ यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः।

प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तश्च विभावितः॥"

कर्मयोग में सभी धार्मिक, नैतिक, आर्थिक आदि कर्म आ जाते हैं। इनमें ही पूर्वमीमांसा, कर्मकाण्डरत्क वेद धर्मशास्त्र आदि का उपयोग हो जाता है। साङ्ख्योग में कापिल, पातञ्जल, वैयासिक दर्शनों का उपयोग ही जाता है। इतिहास, पुराण, तन्त्र इन सभी का तात्पर्य उक्त दो ही निष्ठाओं में हो जाता है। वर्णधर्म, आश्रमधर्म भी इन दोनों में अन्तर्भूत हो जाते हैं। कर्मों के लिए प्रकृति, योग्यता, अधिकार के भेद से भिन्नता होनी युक्त ही है। पक्षी को जन्म से ही उड़ने, मछली को जन्म से ही तैरने का सामर्थ्य होता है। मल्लाह और बढ़ई नाव चलाने और काठ की कारीगरी में अधिक कुशल होते हैं। वैश्य व्यापार में, क्षत्रिय युद्ध में, ब्राह्मण वेदरक्षण में अधिक कुशल होते हैं क्योंकि आचार-विचार एवं इच्छा का प्रभाव रजवीर्य पर पड़ता है। उससे उत्पन्न सन्तान में वैसे संस्कार स्वाभाविक होते हैं। उन्हीं के अनुकूल जन्मना वर्णव्यवस्था और तदानुसार ही कर्मों के पार्थक्य है। इसी प्रकार

स्त्री पुरुषों के कर्तव्यों में भी पार्थक्य है। पतिशुश्रूषा, गृहव्यवस्था शिशु सङ्गोपन, वंशवर्धन आदि कर्म स्त्रियों के लिए विहित हैं। ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य वानप्रस्थ सन्न्यास इन चार आश्रमों का भी उक्त निष्ठाओं में ही अन्तर्भाव हो जाता है। वर्णाश्रमव्यवस्था के अनुसार कर्म उपासना, ज्ञान में ही हठयोग, मन्त्रयोग, लययोग, राजयोग का भी अन्तर्भाव है। मूर्तिवाद, अवतारवाद, साकारवाद, निराकारवाद, सगुणवाद, निर्गुणवाद ये सभी वाद ब्रह्मवाद में आ जाते हैं। सभी तरह की उपासनाएँ उपासना में आ जाती हैं। शास्त्रानुकूल धार्मिक एवं तदविरुद्ध नैतिक आर्थिक आदि कर्म कर्मकाण्ड में आ जाते हैं। अध्ययन, यजन और दान ये तीनों वर्णों के धर्म हैं। अध्यापन, याजन, प्रतिग्रह यह ब्राह्मण की जीविकाएँ हैं। क्षत्रिय की शौर्य्य वीर्य्य युद्ध प्रजापालनादि एवं वैश्य की कृषि, गोरक्षा वाणिज्यादि जीविकाएँ हैं और सेवा शूद्र का धर्म है। वैदिकधर्म की यही विशेषता है कि संसारके मनुष्यमात्र अपने-अपने अधिकारानुसार इसका समाश्रयण कर सर्वविध कल्याण को प्राप्त कर सकते हैं। भगवान् की भक्ति भगवान् के चरित्र-श्रवण, भगवान के स्वरूप का ध्यान यह सब ऐसे पवित्र हैं कि इनसे सभी का कल्याण हो सकता है। इतिहास-पुराण-श्रवण द्वारा स्वधर्मज्ञान एवं तदनुष्ठानपूर्वक भगवान की भक्ति से प्राणिमात्र का कल्याण हो सकता है। इस तरह ईश्वरीय 'वैदिकधर्म' से सम्पूर्ण संसार के प्राणियों का कल्याण हो सकता है।

स्वधर्मपालन

सम्पूर्ण प्राणियोंकी जिस से प्रवृत्ति होती है, सारा विश्व जिस से व्याप्त है, अपने कर्मों से उसी परमात्मा की पूजा करके प्राणी सिद्धि प्राप्त कर लेता है—

"यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥"

वैसे तो पत्र, पुष्प, फल, जल, किसी से भी परमेश्वर की आराधना हो सकती है, परन्तु स्वधर्म ही भगवान की आराधना का मूलमन्त्र है। स्वधर्म की उपेक्षा करके अनेकानेक उपचारों से भी पूजा करने पर भगवान प्रसन्न नहीं होते। वर्णाश्रम के आचार से ही प्राणी द्वारा भगवान की आराधना होती है, उसी से भगवान प्रसन्न होते हैं, उनकी प्रसन्नता का और कोई कारण नहीं है—

"वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
हरिराराध्यते पन्था नान्यत्तत्तोषकारणम्॥"

ठीक ही है, प्रभु की आज्ञा पालन करना ही तो सब से श्रेष्ठ धर्म है—

"आज्ञा सम न सुसाहब सेवा।"

आज्ञा-उल्लंघन करनेवाला कितना भी भक्त हो, प्रभु उसे भक्त नहीं मान सकते—

"श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्त उल्लङ्घ्य वर्तते ।
आज्ञोच्छेदी मम द्रोही मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः ॥"

अर्थात् श्रुति स्मृति मेरी आज्ञा है उसे छोड़कर मनमाना काम करनेवाला आज्ञा का उल्लंघन करनेवाला मेरा भक्त नहीं। इसीलिए "विष्णुधर्मोत्तर" में कहा गया है—

"अपहाय निजं कर्म कृष्ण कृष्णेति वादिनः ।
ते हरेर्द्वेषिणः पापा धर्मार्थं जन्म यद्धरेः ॥"

अर्थात् जो अपने कर्म को छोड़कर 'कृष्ण कृष्ण' कहते हैं वे हरि के द्वेषी हैं क्योंकि धर्म के ही लिए हरि का जन्म हुआ है। जिस धर्म के लिए अज अव्यक्त निराकार प्रभु सगुण साकार होकर प्रकट होते हैं भगवान का भक्त होकर भी जो उसी धर्म का उल्लंघन करे तो वह भक्त कैसा? किसी मित्र की चिट्ठी को तो सुवर्ण सिंहासन पर पधरा कर अनेक उपचारों से उसकी पूजा करना और उसमें लिखी बात पर ध्यान न देना जैसे मूर्खता है, वैसे ही भगवान की 'गीता' को पूजना और उस में कही हुई बातों को न मानना उस पर न चलना मूर्खता है।

शंका हो सकती है कि जल तरंग में जल के समान सम्पूर्ण भूतों के भीतर बाहर मध्य सर्वत्र भगवान ही व्याप्त हैं और सब को ही स्थिति गति प्रवृत्ति उन्हीं से होती है, तब तो जीव स्वकर्म से प्रभु के पूजने न पूजने में स्वतन्त्र ही नहीं है। प्रभु जैसा कराते हैं जीव वैसा ही करता है—

"केनाऽपि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।"

परन्तु इस का समाधान यह है कि जैसे सम्राट की दी हुई स्वतन्त्रता का सदुपयोग-दुरुपयोग करने में सेनापति स्वतन्त्र है, सदुपयोग करने पर अनुग्रहणीय और दुरुपयोग करने पर निग्रहणीय होता है, वैसे ही प्रभु के परतन्त्र होने पर भी उसकी दी हुई स्वतन्त्रता भोगने और उसका सदुपयोग-दुरुपयोग करने में जीवात्मा स्वतन्त्र होता है, जैसे बीजों का अङ्कुरोत्पादनादि यद्यपि पर्जन्य के परतन्त्र है, तथापि भिन्न भिन्न बीजों में भिन्न प्रकार के अंकुर, नाल, स्कन्ध, शाखा, उपशाखा, पत्र, पुष्प, फलादि उत्पन्न करने का निजी सामर्थ्य है, सभी यन्त्रों में जैसे हलचल विद्युत के सम्बन्ध से होती है परन्तु पृथक् पृथक् कार्य्य करने की शक्ति उन की निजी ही है वैसे ही यद्यपि जीवात्मा के देह, इन्द्रिय, मन बुद्धि आदिकों में कार्य्य करने की शक्ति या हलचल परमात्मा से ही प्राप्त होती है, तथापि भगवान् से कार्य्य करने की शक्ति पाकर जीवात्मा उस के सदुपयोग या दुरुपयोग करने में स्वतन्त्र होता है। परमात्मा से मिली हुई स्वतन्त्रता का सदुपयोग करने में जीवात्मा की उन्नति होती है, दुरुपयोग करने से अवनति या पतन होता है। अतएव, जहाँ

ईशस्य हि वशे लोको वायोरिव घनावलिः।
अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा॥"

एष एव साधु कर्म कारयति यमेभ्य उन्निनीषत एष एव असाधु कर्म कारयति यमेभ्योऽधो निनीषते"

इत्यादि श्रुति-स्मृतियों से जहाँ जीवात्मा की परतन्त्रता मालूम पड़ती है, वहीं शास्त्रों में जीवात्मा के लिए विविध कर्त्तव्यों का विधान एवं

निषिद्ध कर्मों का निषेध किया गया है। विधान और निषेध समर्थ के लिए ही सम्भव है, असमर्थ के लिए विधान और निषेध सम्भव ही नहीं। लोहमयी शृङ्खला (हथकड़ी बेड़ी) से जिसके हाथ पैर बंधे हों, उस परतन्त्र को कोई भी जल लाने की आज्ञा नहीं दे सकता, वैसे ही यदि जीव अत्यन्त परतन्त्र होता, तो उसके लिए शास्त्रों में विधान और निषेध न किया जाता। ईश्वर या शास्त्र किसी अशक्य वस्तु का उपदेश नहीं करते। अतः स्पष्ट ही मानना पड़ता है कि भगवान् के परतन्त्र होता हुआ भी जीव भगवान् की ही दी हुई स्वतन्त्रता का उपभोग करता है और उसका दुरुपयोग करने से निगृहीत एवं सदुपयोग करने से अनुगृहीत होता है। इसीलिए सुरापान, परदारगमन आदि का निषेध एवं सन्ध्या, अग्निहोत्रादि का विधान किया गया है। अतएव स्वकर्म से भगवान् की अर्चना का भी विधान किया गया है।

जैसे पठनशक्तिसम्पन्न, पठन में स्वतः प्रवृत्त को ही अध्यापक प्रेरणा करता है, अतएव सक्रिय का ही प्रैष 'णिच' प्रत्यय का विषय माना जाता है —

"सक्रियस्य च यः प्रैषः स प्रैषो विषयो णिचः।"

पठन में अत्यन्त अप्रवृत्त एवं शक्ति-विहीन को सहस्रों प्रेरणाओं से नहीं पढ़ाया जा सकता, वैसे ही जीव अपने जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों, आदतों, स्वभावों, प्रकृतियों द्वारा विभिन्न कर्मों में प्रवृत्त होते हैं, तभी परमेश्वर देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहङ्कार आदिकों में काम करने की सामर्थ्य देकर उन से कर्म कराते हैं। जैसे कोई किसी शास्त्र वचन का अभ्यास करता-करता निद्रित हो जाने पर जागते ही उसी शास्त्र

वचन का उच्चारण करने लगता है, चरखा चलाते-चलाते सो जानेवाली वृद्धा जागते ही चरखा चलाने लगती है, वैसे ही कर्मों को करता करता प्राणी निधन को प्राप्त होकर दूसरा जन्म ग्रहण करते ही प्रायः उन्हीं कर्मों में लग जाता है—

"पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।"

संस्कारों के अनुसार कर्मों में प्रवृत्त से ही परमेश्वर कर्म कराते हैं, तभी परमेश्वर में वैषम्य नैर्घृण्य दोष की प्रसक्ति नहीं होती। अन्यथा किसी से उत्तम कर्म कराकर उसे उत्कृष्ट लोकों में ले जाना किसी को अपकृष्ट कर्म कराकर अधम लोकों में ले जाना स्पष्ट ही विषमता और निर्दयता है। परन्तु यदि उनके प्राक्तन शुभाशुभ कर्मों के अनुसार ही कर्म कराने में परमेश्वर की प्रवृत्ति हो तब तो वैषम्य-नैर्घृण्य दोष नहीं आता।

"कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धवैयर्थ्यादिभ्यः"

इस सूत्र से यही बात स्पष्ट की गयी है। फिर भी कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण प्राणी अपना प्रकृति के अनुसार ही चेष्टा करते हैं। प्रकृतिविहीन कोई भी नहीं है, ऐसी स्थिति में विधर्म-परधर्म को प्रकृतिवाले प्राणी की विधर्म-परधर्म में प्रवृत्ति होती है, उस को कोई भी नहीं रोक सकता। फिर विधि या निषेधात्मक शास्त्र सर्वथा ही व्यर्थ होंगे, प्रकृतिपराधीन ही प्राणियों की शुभाशुभ कर्मों में प्रवृत्ति होती है। ऐसी स्थिति में पुरुषार्थ के लिए भी कोई स्थान नहीं रह जाता। परन्तु इसका समाधान यह है कि इन्द्रियों के अर्थों में इन्द्रियों का राग-द्वेष व्यवस्थित है, इसलिए 'न तयोर्वशमागच्छेत्।' अर्थात्

जिस तरह घट का कारण होने पर भी मृत्तिका जल रूप सहकारीकारण के न होने पर घटनिर्माण करने में असमर्थ होती है, उसी तरह प्रकृति प्रवृत्ति-कारण होने पर भी रागद्वेष सहकारीकारण के विघटित होने पर कार्य्य करने में समर्थ नहीं होती। अतएव देखते हैं कि हिंस्रप्रकृति का सिंह भी अपने बच्चों की हिंसा में प्रवृत्त नहीं होता, क्योंकि वहाँ द्वेष नहीं है। अज्ञात रत्न में राग न होने से ही चोर उस की चोरी में प्रवृत्त नहीं होता। अतः स्पष्ट है कि राग और द्वेष हर एक प्रवृत्तियों के कारण हैं, बिना रागद्वेष की कोई भी प्रवृत्ति नहीं होती। इसलिए पुरुषार्थ की इच्छावाले पुरुष का कर्त्तव्य है कि वह शास्त्र का अभ्यास और सत्पुरुषों का संग करके पाशविक उच्छृंखल रागद्वेष को मिटाने का प्रयत्न करे, शास्त्र के अनुसार दुर्गुणों से ही द्वेष और सत्कर्मों में ही राग सम्पादन करे। ऐसी स्थिति में स्वाभाविकी प्रकृति राग द्वेष रूप सहकारी कारणों के विघटित होने पर निर्बल हो जायगी और फिर पुरुष को स्वानुरूप कार्य्यों में प्रवृत्त होने को लाचार नहीं कर सकेगी। अतः "सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि" इस वचन का भी यही अर्थ है कि "न तयोर्वशमागच्छेत्" के अनुसार सच्छास्त्राभ्यास एवं सत्पुरुषसंग के द्वारा जिन्होंने स्वाभाविक राग द्वेष को नहीं मिटाया, प्रकृति के सहकारियों का विघटन उसे निर्बल नहीं बनाया, उन प्राणियों को प्रकृति परतन्त्र होकर अवश्य तदनुरूप धर्मों में प्रवृत्त होना पड़ता है।

इन दृष्टियों से विदित होता है कि पुरुषार्थ के लिए प्राणियों को पूर्ण अवकाश रहता है, अतः सर्वथा ही विकर्मों और परकर्मों से बचकर

प्राणियों को अपने धर्म का अनुष्ठान करके उसे सर्वाधिष्ठान, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तरात्मा भगवान् के श्रीचरणों में समर्पण करके उन की आराधना करनी चाहिए। बिना भगवान् में समर्पण किये कर्मों का महत्त्व नहीं होता। कर्मों से बन्धन और ज्ञान से मुक्ति होती है। किसी भी प्रकार का कर्म क्यों न हो, उस से शुभाशुभ फलों की प्राप्ति अवश्य होती है। लोहमयी शृंखला के समान सुवर्ण शृंखला से भी प्राणियों का बन्धन ही होता है। अशुभ कर्मों से शूकर-कूकरादि योनिप्राप्ति, शुभकर्मों से मनुष्य, देवादि योनि की प्राप्ति होती है।

"पुनरपि जननं पुनरपि मरणम्"

का प्रपंच लगा ही रहता है। परन्तु वे ही कर्म भगवान् के चरणों में समर्पित होने से मुक्तिरूप फल को फलने लगते हैं। विष जैसे मारक होता हुआ भी विशिष्ट औषधों के योग से सर्वरोग-निवारक हो जाता है, वैसे ही कर्म स्वरूप से बन्धक होने पर भी प्रभुपादपंकज में समर्पण किये जाने पर मुक्तिरूप फल को फलने लगते हैं। इसीलिए कहा गया है कि भक्ति के बिना ज्ञान भी शोभित नहीं होता, फिर अनुष्ठानकाल, फलकाल एवं अपवर्ग (समाप्ति) काल में सर्वदा अभद्र कर्म यदि श्रीभगवान् के चरणों में न अर्पण किया जाय, तो वह किस तरह कल्याणकारक हो सकता है, चाहे वह निष्कामरूप से ही अनुष्ठित क्यों न हो—

"नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्॥"

कर्म यदि भगवच्चरणपंकजसमर्पणबुद्धि से ही अनुष्ठीयमान हों, तो नैष्कर्म्य भी उन्हीं का फल है—

"वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे।
नैष्कर्म्यसिद्धिं लभते रोचनार्था फलश्रुतिः॥"

यद्यपि स्वर्ग पशु-पुत्रादि, लौकिक-पारलौकिक कर्मों के अनेक फल सुने गये हैं, तथापि वे फल केवल कर्मों में रुचि बढ़ाने मात्र के लिए हैं। माता बालक को गुडूची पिलाने के लिए मोदक का प्रलोभन देती है—

'वत्स ! गुडूचीं पिब, लड्डुकं ते दास्यामि।'

बालक मोदक के प्रलोभन से गुडूची का पान करता है और लड्डू पाता है। वह समझता है कि कडुई गुडूचीपान का फल स्वादु का लड्डू ही है, परन्तु मां तो समझती है कि गुडूचीपान का फल रोग-निवृत्ति है, मोदक तो प्रलोभनमात्र है। इसी तरह अज्ञ प्राणी कर्मों के अनुष्ठानों का फल स्वर्ग पशु, पुत्रादि समझता है, परन्तु भगवती श्रुति तो कर्मनिवृत्ति, नैष्कर्म्यप्राप्ति ही कर्मों का मुख्य फल मानती है, अन्य फलों को तो प्रलोभनमात्र समझती है। कोई कह सकता है कि जब कर्मनिवृत्ति ही कर्मों का फल है, तब तो पहले से ही कर्मों को छोड़ने का ही प्रयत्न क्यों न किया जाय ? पहले उन में फंसना, फिर उन से छुटकारा पाने का प्रयत्न करना तो वैसा ही है, जैसा एक बार हाथ में कीचड़ लगाना और फिर जल से इस के प्रक्षालन का प्रयत्न करना। परन्तु इस का समाधान यह है कि कर्मों का अनुष्ठान किये बिना कर्म छूट ही नहीं सकते। जैसे क्षेत्र को निर्बीज करने के लिए उस

में खूब बीजपवन की अपेक्षा होती है, वैसे ही अपने आप को अकर्मा बनाने के लिए खूब शास्त्रानुसार कर्म करने की अपेक्षा होती है। "न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते" कर्मों के आरम्भ न करने मात्र से प्राणी को नैष्कर्म्य की प्राप्ति नहीं होती। प्राणी यदि शास्त्रविहित कर्मों में प्रवृत्त न होगा, तो उन विकर्म में प्रवृत्त होना पड़ेगा। देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि अनात्माओं को कर्म करते-करते आदत पड़ गयी है। वे विना कर्म के रह ही नहीं सकते—

"न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।"

ऐसी स्थिति में यदि देश, काल, वर्ण, वय, आश्रम आदि के अनुसार शास्त्रोक्त कर्म न किया जायगा, तो विकर्म में फंसना ही पड़ेगा। इसीलिए कहा गया है—

"नाचरेद्यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोऽजितेन्द्रियः।
विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति सः॥"

अर्थात् जो अजितेन्द्रिय एवं अज्ञानी प्राणी वेदोक्त वर्णाश्रमानुसारी अपने कर्म को आचरण में नहीं लाता, वह विकर्मरूप अधर्म से बार-बार मृत्यु को प्राप्त होता है अर्थात् उसके जीने-मरने की परम्परा कभी नहीं टूटती। इस दृष्टि से यह सिद्ध होता है कि प्रथम स्वाभाविक, उच्छृंखल अविद्या, काम, कर्म ज्ञानरूप मृत्यु से पार पाने के लिए शास्त्रानुसार अपने कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए और फिर शनैः शनैः उपासना आदि अन्तरङ्ग कर्मों के अनुष्ठान से बहिरङ्ग कर्मों को छोड़ना चाहिए। फिर क्रमेण सर्वेन्द्रियों एवं मन, बुद्धि के निर्विचेष्ट हो

जाने पर शुद्ध, अकर्म आत्मस्वरूप का प्रत्यक्ष उपलब्ध होता है। इसीलिए स्वकर्म से ही प्राणी सिद्धि को प्राप्त होता है।

कुछ लोग स्वतन्त्र ही कर्म से सिद्धि मान लेते हैं, परन्तु भगवान् का यह मत नहीं, वे तो कहते हैं कि स्वकर्म की पूजा करके प्राणी सिद्धि को प्राप्त होता है अर्थात् कर्मों में यह स्वातन्त्र्य नहीं है कि वे अपना फल दे सकें। प्राणियों के देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि. अहंकारादिकों की चेष्टा (हलचल) रूप कर्म जड़ हैं। न उन्हें अपना ही, न करनेवालों का ही ज्ञान है। फिर वे किसे फल दे सकते हैं? चेतन से अनधिष्ठित अचेतन की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। जीवात्मा भी अल्पज्ञ और अल्पशक्तिमान् है, उसे अपने एक जन्म के भी सम्पूर्ण कर्मों का पता नहीं, फिर अनन्त जन्मों, अनन्त कर्मों और उनके क्या क्या फल कहाँ कैसे मिल सकते हैं, इत्यादि का कुछ भी ज्ञान नहीं होता, फिर वह फल कैसे सम्पादन कर सकता है? कथंचित् सामर्थ्य हो, तो भी वह अपने सत्कर्मों का ही फल सम्पादन करेगा। स्वतन्त्र रहने पर असत्कर्मों के फल भोगने में किस की प्रवृत्ति हो सकती है? इसीलिए अनन्त ब्रह्माण्डों, उनके अनन्त प्राणियों, उनके अनन्त जन्मों और विचित्र कर्मों को जाननेवाला, फल दे सकनेवाला, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमात्मा माना जाता है। अतः जबतक कर्मों से भगवान् की पूजा न की जाय, तबतक कर्म व्यर्थ से ही रहते हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि जब भगवान् कर्मों के अनुसार ही प्राणियों को फल देते हैं तब उनको मानने का प्रयोजन ही क्या है? परन्तु उन्हें यह समझना चाहिए कि कर्ममात्र न स्वयं फल दे सकता है, न कोई मूक,

पाषाणादि जड़ पदार्थ फल देने में समर्थ होते हैं, कर्म-फल किसी शक्तिसम्पन्न, ज्ञानवान् चेतन से ही मिल सकता है। अतएव काम लेने वाला, कर्मफल लेनेवाला सर्वदा चेतन ही अपेक्षित रहता है। वकील, बैरिस्टर, इंजीनियर, चिकित्सक आदि अनेक कार्यकुशल होते हैं, फिर भी उनसे कार्य लेनेवाले किसी धनवान् चेतन की अपेक्षा होती है। अनेकों विषय का आचार्य भी वृक्ष या पाषाण से काम करके फल नहीं पा सकता, किसी चेतन धनवान् को ढूंढता है। कामलेनेवाले धनवान् के न मिलने से ही बेकारी का प्रश्न उठता है और बड़े-बड़े शिक्षित लोग अनेक उपायों से आत्महत्या कर बैठते हैं। इसीलिए कर्मकाण्ड का परम रहस्य-मय सिद्धान्त ही यही है कि अपने-अपने कर्मों से परमेश्वर की आराधना की जाय। कुछ न कुछ कर्म तो प्राणी विना प्रेरणा ही के, अपने आप ही करता रहता है। भगवान् और शास्त्रों ने 'कुरु कर्मैव' इत्यादि वचनों से जिन कर्मों का विधान किया है, वे शास्त्रोक्त कर्म हैं। उन शास्त्रोक्त कर्मों के अनुष्ठान से ही स्वाभाविक प्राकृतिक कर्म छूट सकते हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान से जिनका महत्व और फल न भी प्रतीत हो, वे भी कर्म यदि शास्त्र से विहित हों, तो उनका अनुष्ठान आवश्यक है शास्त्रोक्त कर्मों में भी अनेक प्रकार के कर्म हो सकते हैं, अतः उनमें भी स्वधर्म के ही अनुष्ठान पर भगवान् तथा शास्त्रों का अधिकाधिक जोर है। पर-धर्म तो विधर्म या अधर्म के समान ही त्याज्य है। तभी स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः" इत्यादि वचनों से परधर्म को भयावह, स्वधर्म को कल्याणकारक कहा गया है। यदि सब के ही स्वेच्छानुसार सब कर्म ग्राह्य होते, तो धर्म के साथ 'स्व' 'पर' विशेषण लगाना ही व्यर्थ होता।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, इन चारों वर्णों और ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वनस्थ, संन्यासी इन चारों आश्रमों को अपने वर्णाश्रमानुसार श्रौत-स्मार्त कर्मों में प्रवृत्त होना चाहिए। कामचार, कामवाद, कामभक्षण छोड़कर शास्त्रपरतन्त्र होकर स्वधर्मानुष्ठान कर भगवान् के चरणों में अर्पण करते करते प्राणी के व्यवहार शुद्ध हो जाते हैं, पाशविकी इच्छाओं का निरोध हो जाता है, फिर अन्तःकरण की पवित्रता में कुछ भी कठिनाई नहीं रह जाती। साथ ही यह भी विशेषता इस स्वधर्मानुष्ठान में है कि यदि शूद्र अपने धर्म का पालन करे, तो उसे अन्तःकरण-शुद्धि, ज्ञान-योग्यताप्राप्ति, पुराणादि श्रवण, मनन निदिध्यासनक्रमेण तत्त्वसाक्षात्कार और मुक्ति मिल सकती है। यदि ब्राह्मण भी अपने धर्म का पालन न करे, तो उसकी भी अधोगति होती है। जैसे सूर्योदय होने पर जो जहां है, वहीं से सूर्य्य का दर्शनकर सकता है, वैसे ही जो जहां है, उसे उसी वर्ण और आश्रम के अनुसार अपनाकर्म करने से सिद्धियां प्राप्त हो जाती हैं। ब्राह्मणको सिद्धि प्राप्त करने के लिए क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के कर्मों की अपेक्षा नहीं है। शूद्र को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के कर्म अपेक्षित नहीं होते। शूद्र अपने ही कर्म से सिद्धि को प्राप्त हो जाता है। प्रत्युत शूद्र को सिद्धि प्राप्त करने में बड़ी सुविधा है। ब्राह्मणादिकों के लिए ब्रह्मचर्य्यव्रत, वेद वेदांग का अध्ययन, अग्निशुश्रूषा, गुरुशुश्रूषा भूमिशयन, सन्ध्या, जप, सूर्य्योपस्थान, विविध तपस्याओं और कर्मों के अनुष्ठान की अपेक्षा होती है। तभी उसका श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि सफल होता है। उसे संस्कारों और सूतक, पातक आदि का बहुत अधिक विवेचन करना पड़ता है। यदि ब्राह्मणादि जन्म प्राप्त करके भी कोई चाहे कि सूतक-पातक आदि का

विवेचन न किया जाय, संस्कारों का ध्यान न रखा जाय, सत्कर्मादिनिरपेक्ष भगवन्नामादि से ही कल्याण कर लें, तो यह असम्भव है, क्योंकि स्वधर्म छोड़ना भी दश नामापराधों में एक नामापराध है। नामापराधी नाम से भी सद्गति नहीं पा सकता। हाँ, शूद्र के लिए पाप से बचते हुए, द्विजातियों की सेवा करते हुए भगवन्नाम-कीर्तन और भगवान् के मंगलमय परमपवित्र चरित्रश्रवणादि से भी पूरा काम चल सकता है। इसीलिए भगवान् व्यासदेव ने "शूद्रो धन्यः शूद्रो धन्यः" कहा है। न उसे संस्कार की अपेक्षा, न ज्यादा सूतक-पातकादि का विचार, न ब्रह्मचर्यव्रतपालन और न तो वेद वेदाङ्गादि के अध्ययन की ही कठिनाई पड़ती है। इसी तरह पुरुषों की उपर्युक्त कठिनाईयां स्त्रियों को भी नहीं पड़ती। पतिशुश्रूषा पतिव्रतधर्म पालन से ही स्त्रियों को दिव्यातिदिव्य गति प्राप्त होती है। इसीलिए "स्त्रियो धन्याः, स्त्रियो धन्याः, स्त्रियो धन्याः" इत्यादि वचनों से स्त्रियों को भी धन्य, धन्य, कहा गया है।

स्वधर्म-पालन ही प्राणियों का कल्याणकारक है। इसीलिए बन्धु-बान्धवादिकों की हत्या जिस क्षात्रधर्म में करनी पड़ती है, उस अत्यन्त क्रूर धर्म के लिए भी भगवान् कहते हैं —

"स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते॥"

अर्थात् हे अर्जुन! स्वधर्म को भी देखकर तुम्हें प्रकम्पित न होना चाहिए। धर्मयुक्त सङ्ग्राम से बढ़कर क्षत्रिय के लिए कल्याणकारक कोई भी नहीं है। श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।"

परधर्म चाहे बहुत अच्छी तरह से भी अनुष्ठान किया जाय, अपना धर्म विगुण भी हो, तो भी अपना ही धर्म पालन करना श्रेष्ठ है। यों तो कर्म मात्र ही प्राकृत होने से इस तरह दोष समावृत है, जैसे धूम से अग्नि आवृत होता है। जब सभी कर्म दोष से आवृत है, तब फिर अपना ही कर्म आदरपूर्वक क्यों न किया जाय? यदि कहा जाय कि फिर छोड़ ही दिये जाय कर्म, परन्तु यह असम्भव है। कोई प्राणी बिना कर्म किये क्षण मात्र भी नहीं टिक सकता। ऐसी स्थिति में शास्त्रोक्त कर्म न किये जायेंगे तब तो असत् कर्मों में प्रवृत्ति हो जायगी। अतः स्वधर्म का ही अनुष्ठान करना आवश्यक है।

स्वधर्म या स्वकर्म में कुछ तो जीविकार्थ कर्म हैं और कुछ परलोकार्थ। जीविकार्थ कर्मों में कुछ सम्पत्ति-विपत्ति भेद से परिवर्तन हो जाता है, परन्तु दूसरे प्रकार के कर्मों में ऐसा नहीं होता। संस्कारों और शास्त्रों का अधिकार जन्म से ही निर्धारित है। ब्राह्मण को अध्ययन-अध्यापन का अधिकार है। क्षत्रिय, वैश्य को अध्ययन का ही अधिकार है। संस्कारहीन ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य तथा स्त्री, शूद्र इतिहास पुराणों के श्रवणाधिकारी हैं। स्वधर्मनिष्ठ स्त्री, शूद्र सद्गति के अधिकारी हैं, परन्तु संस्कारशून्य या धर्मभ्रष्ट द्विजाधम की गति में बड़ी कठिनाई है। अपने वर्ण, आश्रम के अनुसार श्रुति-स्मृति से कहे गये धर्मों तथा जीविकार्थ कर्मों को करके श्रीभगवान् के चरणों में समर्पण करना भगवान् की दिव्य आराधना है। अपने अधिकार के कर्म गुण है, विपरीत दोष हैं —

"स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः।
विपर्ययस्तु दोषः स्यादुभयोरेष निश्चयः॥"

ब्राह्मण का उपनयनपूर्वक वेदाध्ययन न करना बड़ा दोष है। वही कर्म शूद्र को करना दोष है। प्रणव के उच्चारण, होम और शालिग्राम की पूजा से, कपिला क्षीरपान से शूद्र चाण्डाल हो जाता है, परन्तु यदि वही अहिंसा क्षमा, दयादिसहित भगवान की भक्ति करे, तो उसी से उसकी परम सद्गति हो जाती है। विशेषतः प्राणियों के लिए भगवान का आदेश है कि वे जो भी कर्म करें, श्रीभगवान् के चरणों में समर्पण करें। इससे प्राणी अपने सभी व्यवहारों को शास्त्र के अनुसार शुद्ध बनायेगा। प्राणी का यह स्वभाव होता है कि जो वस्तु भगवान को समर्पण करनी होती है उसकी शुद्धि पर बहुत अधिक ध्यान रखता है। यदि अपनी सभी हलचलों को श्री भगवान् में समर्पण करती है, तो छल झूठ, बेईमानी आदि के भाव हट जाते हैं। इससे समाज और राष्ट्र में बड़ी शान्ति फैलती है। जो व्यक्ति लौकिक-पारलौकिक सब कर्मों को करते समय सर्वाधिष्ठान, सर्व शक्तिमान परमेश्वर को स्मरण रखता है, उसको कभी भी भ्रान्ति अज्ञ नहीं होती और न तो उससे कभी अपवित्र कर्म होते हैं। किसी दुरदृष्ट की प्रेरणा से कुछ अशुभ कर्म बनते ही वह पश्चाताप और प्रायश्चित्त करता है। व्यवहार सुधरने पर ही उपासना और ज्ञान के विचार सफल होते हैं।

जो व्यक्ति स्वयं स्वधर्म के पालन में दृढ़ता रखता है, उसके उपदेश के बिना लोग उनके आचरण से शिक्षा ग्रहण करते हैं। इस तरह उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ सभी श्रेणी के स्त्रियों, पुरुषों को लाभ होता है। संसार में उपदेश से भी उतना लाभ नहीं होता, जितना आचरण से होता है। इसलिए अर्जुन से भगवान् ने कहा कि तुम अपना धर्म

पालन करो, इसी से सबका कल्याण होगा। 'स्त्रियां विधवा होकर व्यभिचारिणी बन वर्णसङ्करी सृष्टि करेंगी, जिससे कुलघ्नों और कुल को नरक होगा' अर्जुन की इस अनुपपत्ति पर और कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। अर्जुन से भी इस सम्बन्ध में पुनः कुछ प्रश्न करते नहीं बना, क्योंकि स्पष्ट था कि यदि अर्जुन स्वयं स्वधर्म छोड़ दे, तो उसे वैसे प्रश्न का अवकाश ही नहीं रहता। फिर तो विधवा क्या सधवा भी अर्जुन को आदर्श मानकर स्वधर्म छोड़ सकती है। फिर तो कुमारियों का, सधवाओं का भी आज के समान ही धर्मत्याग स्वाभाविक ही था। स्वधर्म-पालन से तो विधवा भी शिक्षा ग्रहण कर सकती है, जैसा कि उस समय हुआ। प्रायः उन सभी विधवाओं में कोई भी व्यभिचारिणी नहीं हुई कोई सती हो गयी, कोई वैधव्यधर्म पालन कर मुक्त हो गयी। ठीक ही है, जहां शूर, धीर, स्वधर्मनिष्ठ पुरुषों की अधिकता होती है, वहां स्त्रियां अवश्य स्वधर्मनिष्ठ होती हैं मेवाड़ के वीरों की बहनों, बेटियों, पत्नियों का जौहर प्रसिद्ध ही है। जब वहां के वीर मातृभूमि की, धर्म की, सभ्यता की रक्षा के लिए प्राणों की परवाह न कर लड़ते थे, तब उनकी वीरसू माताओं या वीर पत्नियों के मन में कुत्सित भावनाएं कैसे उठती ? जहां स्वधर्म-त्याग, परधर्म-विधर्म का ग्रहण चल पड़ता है, कायरता और अनाचार, व्यभिचार की मात्रा बढ़ जाती है, वहां स्त्रियों में भी दुर्विचार उठते हैं। अशुद्ध आचरणों, अशुद्ध वातावरणों एवं तत्पोषक साहित्यों, पत्र-पत्रिकाओं, उपन्यास, नाटक, सिनेमाओं से बुरी भावनाएं बढ़ती हैं। उनके मिटाने में भी स्वधर्मनिष्ठ, आदर्शभूत व्यक्तियों की ही आवश्यकता होती है। चन्द्रोद-

आदि महौषधों के सेवन में जैसे कुपथ्य-परिवर्जन, पथ्य-सेवन की अपेक्षा होती है, वैसे ही भगवद्भक्ति, भगवद्ध्यान, ज्ञान में भी विधर्म-परधर्म से बचने और स्वधर्म-पालन की परमावश्यकता होती है। इसीलिए स्वधर्म-कर्म से, भगवान् की आराधना से ही प्राणी सिद्धि को प्राप्त होता है।

राष्ट्रोन्नति और धर्म

बिना धार्मिक भावनाओं का प्रतिष्ठापन हुए सुखपूर्वक समाज एवं राष्ट्र का सुसंघटन हो ही नहीं सकता। सुन्दर स्त्री, रत्न तथा राज्यादि-विहीन दूसरों की उक्त सुख सामग्रियों को देखकर स्पृहा या ईर्ष्या करते हैं। कोई क्यों साम्राज्यादि सुख-सामग्री-सम्पन्न और हम क्यों दरिद्र एवं दुःखी रहें? बस, एतन्मूलक राजा-प्रजा, किसान-जमींदार और पूंजीपति-मजदूरों का संघर्ष होना स्वाभाविक है। एक ओर ईर्ष्या या रागवश मजदूर, किसान संघटन करते हैं और क्रान्ति पैदा करके पूंजीपति, जमींदार आदि को मिटा देना चाहते हैं। दूसरी ओर राजा तथा धनी-मानियों को भी प्रमादवश गरीबों का शोषण करके अपनी ही भोग-सामग्रियों में सर्वस्व लगाने की सूझती है। एक वर्ग कुछ नहीं देना चाहता, दूसरा सब कुछ ले लेना चाहता है। इस तरह धन एवं भोग में आसक्त धनिकवर्ग दरिद्रता, उत्पीड़न एवं ईर्ष्या से पीड़ित निर्धनवर्ग अपने-अपने कर्तव्यों से वंचित होकर राष्ट्र और समाज के जीवन को संकटपूर्ण बना देते हैं। शास्त्र एवं धर्म एक ऐसी वस्तु है, जिससे सभी में सन्तोष एवं सामंजस्य की भावना प्रतिष्ठित होती है। शास्त्र और धर्म का प्रभाव ऐसा था कि लोग पर-स्त्री एवं पर द्रव्य को विष के समान मानते थे। लोगों की यह धारणा थी कि सम्पत्ति-विपत्ति, सुख-दुःख में अपने शुभाशुभ कर्म ही मुख्य हेतु हैं। क्यों हम दुःखी एवं दरिद्र हुए, इसका समाधान वे इस तरह कर लेते थे कि जैसे अपने कर्मवश कोई

पशु, कोई पक्षी, कोई अन्ध बधिर या उन्मत्त होता है, वैसे ही कर्मों के अनुसार ही कोई भोग-सामग्री से विहीन और उससे कोई सम्पन्न होता है।

प्राणी को अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार ही सुख-दुःख, सम्पत्ति-विपत्ति भोगनी पड़ती है। उसे अपनी ही सम्पत्ति तथा सुख-सामग्री में सन्तुष्ट रहना चाहिये। परकीय धन या कलत्र की स्पृहा न करनी चाहिये। पुरुषार्थ से अपने आप हृष्ट-पुष्ट हो जाना और बात है, दूसरों की हृष्टता-पुष्टता मिटाकर अपने समान उसे भी बना देना और बात है। ऐसे ही अपने सत्प्रयत्नों से सुन्दर भोग-सामग्री सम्पादन करना यद्यपि युक्त ही है, तथापि दूसरों की सामग्रियों से ईर्ष्या करना, उसे अपहरण करना अवश्य ही पाप है। ऋषिलोग अरण्यों में रहते थे और नदियों के तट पर कुद्दाल आदि से कुछ सामग्री उत्पन्न करते थे। उस में से भी वे राजा का अंश निकालकर उसकी इच्छा न होते हुए भी उसे दे आते थे। पाप बन जाने पर पापी स्वयं जाकर राजा से दण्ड-ग्रहण करते और उससे अपनी शुद्धि समझते थे। अब भी पाप बन जाने से अपने-आप पापों के प्राय-श्चित्त करने की प्रथा भारत में कुछ-कुछ प्रचलित है। लिखित महर्षि ने अपने भाई शंख के ही उद्यान से फल लेने को चोरी समझा और उससे शुद्ध होने के लिए राजा के यहाँ स्वयं जाकर राजा की अनिच्छा रहते हुए भी हस्तच्छेदन कराया। इस तरह जब अपनी न्यायोपार्जित साम-ग्रियों में सन्तुष्ट रहने का अभ्यास था, परकीय या अन्याय-समागत वस्तुओं से घृणा एवं भय था, परोपकार करने में पुण्यबुद्धि एवं उत्सुकता तथा पर-पीड़न में घृणा और उद्वेग होता था, तब समाज तथा राष्ट्र की व्य-

११

अस्था स्वाभाविक ही थी। मिलने पर भी सभी भरसक यही प्रयत्न करते थे कि दूसरे की वस्तु न ली जाय। इसके विपरीत देनेवालों को यही स्पृहा रहती थी कि किसी प्रकार अपनी वस्तु परोपकार में लगे। घर घर आतिथ्यसत्कार की प्रथा थी। वैश्वदेव के उपरान्त द्वार पर खड़े होकर अतिथि की प्रतीक्षा की जाती थी। उसके न मिलने पर खेद प्रकट किया जाता था। अग्निहोत्र में अग्नि भगवान् से अतिथि पाने की प्रार्थना की जाती है। क्या ही उदात्त भावना थी। बहुत उपवासों के बाद श्रीरन्तिदेव वैश्वदेवादि कृत्य करके जब थोड़ासा सत्तू खाने बैठे, तब पुल्कस आदि कई अतिथि आ पहुँचे। रन्तिदेव सब कुछ उन्हें देकर जलपान करने लगे। इतने ही में एक श्वपच अपने कुत्तों के साथ आ पहुँचा और उसने अपनी क्षुधा पिपासा की व्यथा सुनायी। श्रीरन्तिदेव समस्त जल-प्रदान करके भगवान् से प्रार्थना करने लगे कि 'हे नाथ! मैं स्वर्ग-अपवर्ग आदि कुछ भी नहीं चाहता, चाहता हूँ केवल यही कि सन्तप्त, आर्त प्राणियों का कष्ट मुझे मिल जाय और सभी प्राणी सुखी हो जायँ—

"न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम् ॥"

यज्ञ-यागादि के व्याज से सभी सम्पत्तिशाली अपनी सम्पत्तियों का विभाग करके समता उत्पन्न कर लेते थे। राम के यज्ञ में महाभागा वैदेही के हाथ में केवल सौभाग्य सूत्र ही अवशिष्ट रह गया। यद्यपि वह समय साम्राज्यवाद का था, तथापि वर्तमान जनतन्त्र या साम्यवाद उस शासन के सौन्दर्य की बराबरी कथमपि नहीं कर सकते। राजा अपने भुजबल से साम्राज्यपालन करते थे, उनका राष्ट्र निज

भुजबल पर सुरक्षित था, सेना केवल शोभा के लिए थी। उसके शैथिल्य होने पर सम्राट् स्वतः युद्ध भूमि में अवतीर्ण होते थे, फिर भी विना प्रजा की अनुमति के पुत्र तक को शासन भार नहीं दिया जा सकता था। प्रजा के सन्तोष के लिए सम्राट अपने पुत्र, पत्नी तक का परित्याग कर सकते थे। सूर्य जैसे तिग्म रश्मियों से पृथ्वी का रस ग्रहण करते हैं और वर्षाऋतु में उसे भूमि को प्रदान कर देते हैं, वैसे ही प्रजा से कर तो लिया जाता था, परन्तु उसका लक्ष्य केवल प्रजा का संरक्षण ही था।

परलोक में अभीष्ट फलप्रदान करने वाले सन्ध्या, जपादि धर्म का अनुष्ठान तथा अनिष्टप्रद सुरापान और, अनृत-परिवर्जन तो नास्तिकों को भी करना चाहिए। फल के सन्देह में भी कृषि,, व्यापारादि कार्य्य किये ही जाते हैं। इसी तरह परलोक के सन्देह में भी धर्म करना ही चाहिए यदि परलोक में धर्म की अपेक्षा हुई, तब तो न करने वाला पछतायेगा तथा करनेवाला आनन्दित होगा और धर्म की कुछ अपेक्षता न हुई, तो भी करनेवाले को कोई हानि नहीं। किसी दूर जङ्गली प्रदेश में जाना हो,तो भोजन- सामग्री और रक्षा के साधन शस्त्र-अस्त्रादि से सुसज्जित होकर ही जाना चाहिए यदि वहाँ व्याघ्रादि का आक्रमण हुआ, तो वे काम आयेंगे, नहीं तो पछताकर प्राण गवाँना पड़ेगा। परन्तु सामग्री रहने पर यदि आवश्यकता न भी हुई, तो भी कोई हानि नहीं। अनादि काल से आस्तिक-नास्तिक का शास्त्रार्थ चलता है, कभी नास्तिकों का और कभी आस्तिकों का पराजय होता है। कोई भी मत अत्यन्त खण्डित या मण्डित नहीं हो सकता। सर्वत्र ही पराजय होने पर भी मति का ही

दौर्बल्य समझा जाती है, न कि मत का। इसलिए सम्प्रदाय नास्तिक को भी परमेश्वर और धर्म के विषय में सन्देह तो हो ही सकता है परन्तु ऐसे भी बहिर्मुख देश तथा समाज हैं, जहां परमेश्वर और धर्म की चर्चा तक नहीं, फिर सन्देह कहां से हो सकता है? सन्देह से जिज्ञासा और जिज्ञासा से बोध भी अनिवार्य होता है। अतः ईश्वर और धर्म में सन्देह तक अतिदुर्लभ है। इसलिए सन्देह हो तो भी नास्तिकों को धर्म का अनुष्ठान करना परमावश्यक है।

कुछ लोग कहते है कि शास्त्रों एवं तदुक्त धर्मों को मानने वालों से कष्ट ही दिखाई देता है, अतः शास्त्र न मानना ही श्रेष्ठ है। परन्तु यह ठीक नहीं, जहां शास्त्र न मानने वालों की संख्या अधिक है, वहां शास्त्र मानने वालों को कष्ट है और जहां शास्त्र मानने वालों की संख्या अधिक है, वहां उसके न माननेवालों को भी दुःख है। परन्तु बुद्धिमानोंको तो यह सुनिश्चित है कि यथेष्ट चेष्टावाले वानर की अपेक्षा नर में यही विशेषता है कि वह शास्त्र मानता है और शास्त्रानुसार व्यवहार करता है प्रमाणभूत शास्त्र के बिना जैसे लोग सुख के भाजन नहीं होते, वैसे ही प्रमाणभूत शास्त्र के बिना भी प्राणियों को सुख नहीं होता। कहा जाता कि लोक में तो विपरीत ही देखने को आता है। सशास्त्र दुःखी और अशास्त्र सुखी है। परन्तु यह बात बिना विचार से ही है। तृप्ति को ही सुख कहा जाता है, पशुओं में भोजन से और मनुष्यों में ज्ञान से तृप्ति होती है। ज्ञान शास्त्र से होता है। क्या ज्ञान सुख का प्रतिबन्धक है? कौन सा ऐसा सुखपात्र है जो प्रमाणविहीन हो? आरण्यक पशुओं को भी तो सुख के लिए श्रोत्र, चक्षु आदि प्रमाणों की अपेक्षा है, उनके वैगुण्य में वे भी दुःखी

ही होते हैं। मनुष्य की यह विशेषता है कि उसमें पशु साधारण प्रत्यक्ष अनुमान प्रमाण है, साथ ही शास्त्र प्रमाण अधिक है। जैसे राजा का आश्रय लेकर निर्बल प्राणी भी प्रबल से भी प्रबल को जीत लेता है, वैसे ही धर्म और न्याय के सहारे प्राणी सम्राट् को दबा सकता है। महा स्वतन्त्र निजभुजबल से विश्वविजेता धर्म के ही भय से आत्मनियन्त्रण करता है। खड्गादि अस्त्र-शस्त्र सम्पन्न करोड़ों शूरवीर निःशस्त्र स्वामी के भी अधिक्षेपों को सहते हैं, इसका प्रधान कारण यही स्वामिद्रोह का भय ही है। कहीं-कहीं अधर्म के प्राबल्य में भी प्राणी को अनन्त साम्राज्य, समृद्धि तथा वैभव देखा जाता है। परन्तु वहाँ पूर्व जन्म का ही धर्म और तप मूल समझना चाहिए। रावण का अद्‌भुत वैभव देखकर श्रीहनुमान जी ने कहा था कि यदि अधर्म बलवान् न होता, तब तो यह रावण शक्रसहित सुरलोक का शासक होता —

"यद्यधर्मो न बलवान् स्यादयं राक्षसेश्वरः ।
स्यादयं सुरलोकस्य सशक्रस्यापि रक्षिता ॥"

दूसरे प्रसंग में रावण से ही श्रीहनुमान जी ने कहा था कि 'हे रावण ! पूर्व सुकृतों का फल तुमने पा लिया, अब इस अधर्म का भी फल शीघ्र ही पाओगे' —

"प्राप्तं धर्मफलं तावत् भवता नात्र संशयः ।
फलमस्याप्यधर्मस्य क्षिप्रमेव प्रपत्स्यसे ॥"

इसलिए सिद्धान्त यही होना चाहिए कि जो कर्म धर्म से विरुद्ध हो

उससे चाहे कितना भी बड़ा फल क्यों न हो, बुद्धिमान् पुरुष उसका सेवन कदापि न करे —

"धर्मादपेतं यत्कर्म यद्यपि स्यान्महाफलम् ।
न तत्सेवेत मेधावी न हि तद्धितमुच्यते ॥"

धर्म से विद्या, रूप, धन, शौर्य, कुलीनता, आरोग्य, राज्य, स्वर्ग मोक्ष सब कुछ मिलता है —

"विद्या रूपं धनं शौर्यं कुलीनत्वमरोगता ।
राज्यं स्वर्गश्च मोक्षश्च सर्वं धर्मादवाप्यते ॥"

ऐसे धर्म को छोड़कर क्या कोई राष्ट्र उन्नति कर सकता है ?

—o—

संस्कृति का आधार

कहा जाता है कि सारे संसार में आजकल सांस्कृतिक संघर्ष चल रहा है। सभी अपनी संस्कृति की रक्षा तथा उसके प्रचार और दूसरे की संस्कृति का नाश करने पर तुले हुए हैं। संस्कृति के नाम पर भीषण जनसंहार हो रहा है। पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं में संस्कृति की चर्चा बराबर चलती रहती है। विचारशील विद्वान् भारतीय संस्कृति को ही सर्वोच्च बतलाते हैं। पर कहीं यह नहीं बतलाया जाता कि उस संस्कृति का आधार क्या है और उसका स्वरूप किससे जाना जा सकता है। इस पर विचार करने के पहले एक बात ध्यान में रखना आवश्यक है। आजकल की पद्धति के अनुसार शब्दों के अर्थ समय-समय पर कई कारणों से बदलते रहते हैं। यदि यही बात है तो फिर मतभेद भी अनिवार्य है। परन्तु अपने यहाँ दूसरा ही सिद्धान्त है। वैदिकों के मत में शब्द नित्य हैं और उनका अर्थ के साथ सम्बन्ध भी नित्य है। अतएव, उनमें अनिश्चय, सन्देह तथा विवाद के लिए कोई स्थान ही नहीं है। इस तरह 'संस्कृति' और 'सभ्यता' भी दोनों ही निश्चित शब्द हैं और उनका अर्थ भी निश्चित है। 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृञ्' धातु से 'क्तिन्' प्रयत्न होने पर 'संस्कृति' शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ होता है, 'सम्यक् शोभन कृति' और इसी संस्कृति के भीतर 'सभ्यता' भी आ जाती है। जैसे खान में उत्पन्न होनेवाले हीरक और माणिक्य में संस्कार द्वारा उनकी दिव्य शोभा बढ़ायी जाती है, वैसे ही अविद्या

तत्त्वास्थात्मक प्रपंचनिमग्न स्वभावशुद्ध अन्तरात्मा की शोभा संस्कार द्वारा व्यक्त की जाती है। तथाच आत्मा को प्रकृति के निम्न स्तरों से मुक्त करके क्रमेण ऊपर के स्तरों से सम्बन्धित करने या प्रकृति के सब स्तरों से मुक्त करके उसे स्वाभाविक अनन्त आनन्दसाम्राज्य-सिंहासन पर समासीन कराने में उपयुक्त जो कृतियां, वही 'संस्कृति' शब्द से कही जा सकती हैं। अर्थात् सांसारिक निम्न स्तर की सीमाओं में आबद्ध आत्मा के उत्थानानुकूल जो कृति है, वही 'संस्कृति है। व्यापक दृष्टि से कह सकते हैं कि लौकिक, पारलौकिक, नैतिक, धार्मिक, वैयक्तिक, सामूहिक अभ्युत्थान के अनुकूल देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहङ्कारों की शोभन हलचल या रहन-सहन ही 'संस्कृति' है। अतः सभ्यता भी संस्कृति का एक अंश होने के कारण, उसी में अन्तर्भूत समझी जानी चाहिए, क्योंकि सभा में वही साधु—अच्छा—समझा जा सकता है, जिसके संयत और शोभन व्यवहार होंगे। किसके सन्निपात में, कहां, किससे कैसे बैठें इस विषय में जो कुशल है, वही 'सभ्य' है। अब यह प्रश्न उठता है कि सब प्रकार की कृतियों (कर्मों) का सम्यक्त्व, असम्यक्त्व और सौष्ठव-असौष्ठव कैसे जाना जाय और किस कसौटी पर उनकी भलाई-बुराई की परख की जाय, जिससे कि उन उन कर्मों या रहन-सहन, आचार-विचारों को आत्मोत्थान के अनुकूल मानकर उन्हें संस्कृति कहा जाय ?

इसका मोटा एवं अविप्रतिपन्न उत्तर यही है कि जिस राष्ट्र, जाति या सम्प्रदाय में जो महापुरुष या ग्रन्थ प्रायेण सर्वमान्य हुए हों, उन्हीं के आचार और उपदेश को ही कसौटी मानना चाहिए। वैदिकों के सब

प्रकार के कर्मों का सम्यक्त्व वेद-शास्त्र की कसौटी पर परखा जाता है। अतएव, वेद-शास्त्रपरीक्षित तदनुसारी रहन-सहन, आचार-विचार ही वैदिक संस्कृति है। ईसाई, मुसलमानों के यहां भी उनके महापुरुष या धर्म-ग्रन्थों के आधार पर ही उनके रहन,सहन, आचार-विचार का सौष्ठव, सम्यक्त्व निश्चित किया जाता है। उनके कर्मों और कृतियों की भी भलाई-बुराई की कसौटी उनके धर्मग्रन्थ ही हैं। यह अवश्य है कि भिन्न भिन्न जातियों एवं समाजों की कुछ रूढ़ियों का भी संस्कृति के ही भीतर समावेश समझा जाने लगता है। इसीलिए कहा जाता है कि आज कोई भी संस्कृति अछूती नहीं बची है, संस्कृतियों में सांकर्य्य फैल गया है, बहुत से आचार-विचार, रहन-सहन हिन्दुओं के मुसलमानों में और उनके हिन्दुओं में आ गये हैं। भाषा, साहित्य और व्यवहारों के संघर्ष से कुछ दिन संस्कृतियों का संघर्ष और फिर किसी का किसी में सांकर्य्य एवं किसी संस्कृति का नाश तक हो जाता है। अतएव, 'हमारी संस्कृति खतरे में है' इस प्रकार की आवाजें आ रही हैं। ऐसी दशा में संस्कृति का शुद्ध स्वरूप उन उन जातियों एवं सम्प्रदायों के निश्चित धर्मग्रन्थों के ही आधार पर निश्चित किया जा सकता है। यद्यपि सभी जाति और देश के महापुरुषों ने देश, काल, अवस्था और प्रकृतियों को सोच-समझकर उनके आत्मोत्थान के लिए उपयुक्त ही रहन-सहन, आचार विचार नियुक्त किया है, तथापि सूक्ष्मता के साथ देखें तो मालूम होता है कि प्राकृत पाशविक रहन-सहन को नियमों से परिष्कृत कर देने पर ही संस्कृति स्थित होती है। देश, काल, व्यक्ति और उनकी प्रकृतियां विचित्र हैं। उनको जानकर प्राकृत स्वभाविक चेष्टाओं में कितना नियमन करना युक्त

है, यह अल्पज्ञ जीवों को निर्णीत होना दुःशक ही है। यद्यपि चित्सत्त्व सर्वार्थ-प्रकाशन में समर्थ है, तथापि राजस, तामस भावों के उद्‌भव से ज्ञान-शक्ति कुण्ठित रहती है। तपस्या, योगादि सद्‌धर्मों के अनुष्ठान से राजस-तामस भावों के दूर होने से निरावरण विशुद्ध सत्त्व होने से ज्ञान-शक्ति विकसित होती है। फिर भी जब कि अविशुद्धसत्त्वप्रधान अविद्या जीव की उपाधि है अथवा तमःप्रकृति समुद्‌भूत पंचभूतों से ही अन्तः-करण का उद्‌भव है, तब पूर्ण ज्ञानशक्ति का विकास जीव में होना कठिन है। यदि कोई अपने प्रधान ग्रन्थ के रचयिता और संस्कृति के निर्णायक को ईश्वर कहें, तो दूसरे भी अपने ग्रन्थकार या संस्कृति-संस्थापक को वही कह सकते हैं। फिर जो अभी प्रयोगशाला में किसी प्रयोग का अनुभव कर रहे हैं, उनसे निर्धारित नियमों से संस्कृति-सभ्यता का निर्णय कैसे हो सकता है? यदि सभी संस्कृतियां ईश्वर से प्रतिष्ठापित हों, तो फिर उनमें आकाश-पाताल का अन्तर क्यों देखा जाता है? देश-काल-अधिकारी के भेद से यदि संस्कृतियों की व्यवस्था हो, तब तो बात दूसरी है। फिर जहां एक सिद्धान्त दूसरे सिद्धान्त को मूल से खोद फेंकना चाहता है, उसे देश का सर्वनाशक समझता है, वहां समन्वय की आशा को दुराशा के अति-रिक्त क्या कहा जा सकता है? अतः अनादि वेद-शास्त्र एवं तदनुयायी धारणा-ध्यान-समाधिसम्पन्न महर्षियों के सिद्धान्त पर ही शुद्ध सर्वोप-कारक संस्कृति स्थित होती है। अतएव बहुत सी संस्कृतियां और सभ्य-ताएं उत्पन्न होकर नष्ट हो गयीं और बहुत सी उत्पन्न हो रही हैं। परन्तु अपने यहां परमेश्वर और जीव के समान ही अनादिसिद्ध वेद-शास्त्र के अनुसार लोक-परलोक के नैतिक तथा धार्मिक अभ्युदय के अनु-

कुल सामुद्रिक, वैयक्तिक देहादिक के रहन-सहन आचार-विचार ही संस्कृति है। इसलिए वह इतनी व्यापक है कि उसमें सब प्रकार की सभी हलचलों पर नियंत्रण किया है। अतएव यहाँ सामाजिक, वैयक्तिक नैतिक और धार्मिक आचारों के क्षेत्र अत्यन्त भिन्न नहीं है, किन्तु सब का ही सब के साथ सम्बन्ध है, क्योंकि सभी व्यापारों में पद-पद पर पुण्य पाप, आचार-विचार की व्यवस्था है। वस्तुतः मानव-जातिमात्र के लिए वैदिक संस्कृति कल्याणकारिणी है, क्योंकि इसमें अधिकार की चर्चा बहुत है। सभी प्राणियों को सुविधापूर्वक लौकिक, पारलौकिक अभ्युदय एवं निःश्रेयस के लिए अवकाश रखा गया है।

विचार करने से मालूम होगा कि संस्कृति या सभ्यता के भिन्न-भिन्न अर्थ उपयुक्त अर्थ में अन्तर्भूत हो जाते हैं। यदि ज्ञानवृद्धि सभ्यता है या नागरिकता सभ्यता है, तो यहाँ भी तात्पर्य यथार्थ ज्ञान और योग्य शिक्षा से ही है। परन्तु ज्ञान की यथार्थता और शिक्षा की योग्यता जानने के लिए यदि कसौटी की अपेक्षा पड़ेगी, तो प्रथम भिन्न-भिन्न देश के महापुरुषों के ग्रन्थ और फिर अन्त में वेद की ही शरण लेनी होगी। लौकिक उन्नति ही यदि सभ्यता या संस्कृति मानी जाय तो भी यह अवश्य ध्यान रखना होगा कि ऐसी लौकिक उन्नति परिणाम में सर्व संहारिणी न हो। जो आगन्तुक उन्नति रही- सही पुरानी उन्नति का भी नाश कर डाले, वह उन्नति नहीं अर्थात् अनर्थानुबन्ध, अधर्मानुबन्ध, निरनुबन्ध अर्थ, अर्थ नहीं किन्तु वह तो 'अर्थाभास, ही है। धर्मानुबंध, अर्थानुबन्ध अर्थ ही यथार्थ अर्थ है, वही स्थिर तात्विक उन्नति है। देश, काल, परिस्थितियों का प्रभाव अवश्य संस्कृति पर पड़ता है परन्तु

भिन्न भिन्न कृतियों के सम्यक्त्व-असम्यक्त्व का निर्णय इतने ही से नहीं होता। किसी परिस्थिति में कितने ही प्रमादी पुरुष अपनी दृष्टि से आत्म-संयम न कर सकने के कारण अनुचित कृतियों को भी उचित मान लेते हैं। अतः किसी भी देश के काल, जाति, परिस्थिति में वही कृति आचार-विचार, रहन-सहन संस्कृति हो सकती है, जो सम्यक्, समीचीन, शोभन या साध्वी हो और जिसका लोक परलोकदृष्टि से दुष्परिणाम नहीं है। अभ्युदय और निःश्रेयस के प्रतिकूल न होकर जो अनुकूल हो वही कृति 'संस्कृति' है। देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहङ्कार की समस्त चेष्टाओं कृतियों की भलाई बुराई, तथा उनके तात्कालिक या कालान्तर-भावी सुपरिणाम या दुष्परिणाम का बोध जीवों के लिए दुष्कर है, क्योंकि उनमें कुछ न कुछ भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव आदि दोष होते ही हैं। इसलिए उनसे निर्णय नहीं हो सकता। रही ईश्वर की बात, तो वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् अवश्य है, उसकी किसी भी कृति के सुपरिणाम-दुष्परिणाम, सम्यक्त्व-असम्यक्त्व के निर्णय में सन्देह नहीं है। परन्तु किस शास्त्र या संस्कृति के निर्माता या स्रष्टा परमेश्वर हैं इसका निर्णय पूर्वकथनानुसार अत्यन्त कठिन है अतः ईश्वर के समान ही अनादि, अपौरुषेय वेदों से ही किसी भी देश, काल परिस्थिति में किन्हीं भी कर्मों की भलाई बुराई, सुपरिणाम-दुष्परिणाम का निर्णय करना युक्त है।

दूसरी दृष्टि से भी देखें, तो विदित होगा कि यदि शासक या माता-पिता अपनी प्रजा और पुत्र को असत्कर्मों या कृतियों का निषेध करके सम्यक् सत्कर्मों या सत्कृतियों में प्रवृत्त न करें, तो

यह उनका दोष अवश्य समझा जायगा। ऐसी स्थिति में जब यह जगत् केवल अनियन्त्रित, स्वतन्त्र, जड़ प्रकृति का विकास नहीं है, किन्तु सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वनियन्ता एवं सब के माता-पिता भगवान् के नियन्त्रण में ही है, तब उनको अवश्य ही सृष्टि के जीवों के लिए ऐहिक, आमुष्मिक अभ्युदय और निःश्रेयस के उपयुक्त सम्यक् सत्कर्मों या कृतियों का उपदेश करना चाहिए। जितनी अनेक संस्कृतियां प्रसिद्ध हैं, सब का काल और इतिवृत्त है। कोई डेढ़ हजार वर्ष की, कोई दो हजार वर्ष की मानी जाती है। यदि उन्हीं को परमेश्वर-निर्दिष्ट संस्कृति मानें, तो यह सन्देह अवश्य होगा कि उससे पहले के जीवों को उद्धार का ध्यान परमेश्वर ने क्यों नहीं रखा? यह तो विषमता होगी कि डेढ़-दो हजार वर्ष के जीवों के कल्याण का मार्ग बतलाया गया, पुराने लोगों के लिए नहीं। जब सभी संस्कृतियों के पीछे एक धर्मग्रन्थ मानना पड़ता है,—जैसे इसलाम संस्कृति के पीछे कुरान, ईसाई संस्कृति के पीछे बाइबिल, तब वैदिक संस्कृति के पीछे वेद को मानना ही चाहिए। जब आधुनिक भी वेद को सब से प्राचीन ग्रन्थ मानते हैं और उसकी सादिता में कोई प्रमाण और युक्ति नहीं है तथा अनादिता में कोई बाधक प्रमाण नहीं है, तब उसको अनादि एवं अपौरुषेय मानने में क्या आपत्ति है? अतः भगवान् के निःश्वास और विज्ञानभूत, नित्य, निर्दोष वेदों के अनुसार ऐहिक-आमुष्मिक अभ्युदय और निःश्रेयस में अनुकूल, देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार के सम्यक् सुपरिणामवाले सत्कर्म ही 'संस्कृति' हैं। इन्हीं से आत्मा का संस्कार होता है और वह उपद्रवों, अनर्थों से उन्मुक्त होकर स्वस्वरूपभूत परमानन्द-

साम्राज्य-सिंहासन पर समासीन होते हैं। आर्थिक, नैतिक, व्यावसायिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, सामाजिक, वैयक्तिक आचार-विचार, रहन-सहन वेदादिशास्त्र के अनुकूल या अविरुद्ध होकर संस्कृति के भीतर संगृहीत हो जाता है। ऐसी दशा में वेद और उनके आधार पर निर्मित शास्त्र ही हिन्दूसंस्कृति के आधार समझे जा सकते हैं और उन्हीं से उसके स्वरूप का निर्णय हो सकता है।

वादों का वाद

प्रायः लोग पूछते हैं कि साम्राज्यवाद, साम्यवाद, लोकतन्त्रवाद, अधिनायकवाद आदि वादों में कौन वाद सम्मत है। बात यह है कि हमारे व्यक्तिगत विचारों का कोई भी मूल्य नहीं। संसार में "मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना" की स्थिति है; अनन्त व्यक्तियों के मस्तिकों के पृथक्-पृथक् विचार होते हैं। उन अव्यवस्थित विचारों से कुछ भी नहीं होगा। शास्त्र प्रमाण की कसौटी पर जो विचार खरे उतरते हैं, वही सच्चे हो सकते हैं, अन्यथा भ्रान्त समझे जाते हैं। अतः शास्त्र का मन्तव्य क्या है ऐसा ही प्रश्न समुचित है। शास्त्र की दृष्टि में धर्मनियंत्रित राजतन्त्रवाद ही सम्यक् शासन पद्धति है। उसमें अष्ट लोकपालों के अंश से उत्पन्न राजा प्रजा पर शासन करता है। और उस पर धर्म का शासन रहता है। धर्म नियन्त्रित राजतन्त्रवाद का ही दूसरा नाम 'रामराज्य' है इस लोकमत का इतना सम्मान था कि लोकप्रसन्नता के लिए श्रीराम ने अपनी प्राणेश्वरी गर्भिणी जनकनन्दिनी जानकी को भी वन में भेज दिया। सच्चे अर्थ में साम्यवाद का इतना आदर था कि राम ने यज्ञ के व्याज से अपनी सम्पत्तियों का यहाँ तक गरीबों में वितरण किया कि जानकी के हाथ में सौभाग्य सूत्र के अतिरिक्त उनके अङ्ग में कोई भी भूषण न रह गया। धर्मनियन्त्रित राजा के लिए राज्य एक तरह का महान् भार प्रतीत होता है और उसके सञ्चालन के लिए महती तपस्या की अपेक्षा पड़ती है। अतपस्वी अजितेन्द्रिय राजा से इस भार का वाहन असम्भव होता है।

धर्म नियन्त्रित राजा को प्रथम अपने आत्मा, बुद्धि, मन तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना पड़ता है, फिर निर्लोभ वृत्ति से राज्य का सञ्चालन करना पड़ता है। कितने राजा लोग राज्य की सम्पत्ति में से भोजन भी नहीं करते थे, किन्तु अपने निर्वाह के लिए पृथक् परिश्रम करके कुछ द्रव्योपार्जन कर लेते थे। आश्रम के कन्दमूलफलाशी, वल्कलवसनधारी, वनवासी महर्षियों को अत्यन्त निस्पृह देखकर वे उनको यह सोचकर भूमि दे डालते थे कि ये लोग किञ्चिन्मात्र भी प्रजा की सम्पत्ति को अपने भोग में न लगायेंगे, किन्तु प्रजा की सम्पत्ति प्रजा के ही हित में लगायेंगे; सूर्य्य जैसे निज रश्मियों से पृथ्वी का जल खींचते हैं, परन्तु अपने सुखभोग के लिए नहीं, अपितु यथाकाल प्रजा को ही प्रदान करने के लिए, वैसे ही धर्मनियन्त्रित नृपति करसङ्ग्रह करके उससे अपना हित नहीं चाहता, अपितु प्रजा के ही हित में अहर्निश तल्लीन रहता है। रामराज्य की प्रजा भी धार्मिक होती थी। धर्मनियन्त्रित राजा का कर्तव्य होता है कि वह उन्मार्ग पर जाती हुई प्रजा को समझा-बुझाकर अथवा दण्ड देकर सन्मार्ग पर चलाये। धार्मिक होने से प्रजा अपनी गाढ़ी कमायी की थोड़ी से थोड़ी सम्पत्ति पर भी सन्तुष्ट रहती है, मुफ्तखोरी के लाभ से घबराती है। पूंजीपति जमींदार, साहूकार अपनी सम्पत्ति को परमेश्वर की सम्पत्ति समझते हैं, धर्म और विद्या के प्रचार में अपने द्रव्य का सदुपयोग करते हैं और गरीबों दीनों की सहायता में सम्पत्ति लगाने का अवसर ढूंढते हैं। वे अच्छी तरह समझते हैं कि दुराचारी व्यसनी, मद्यपायी, वेश्यागामी श्रीमान् अपने लाखों साथियों के साथ नरक के भागी होते हैं। ईश्वरभक्ति, सदाचार न्यायपालन तथा पथ्य तथ्य

ऐश्वर्य मिलता है, ऐश्वर्य मिलने पर प्रमादाध होकर चलने से नरक मिलता है। अतः ऐश्वर्य प्राप्त करने पर बड़ी सावधानी से धर्मपालन और धर्म-प्रचार करना चाहिए, जिससे लाखों को साथ लेकर वैकुण्ठधाम प्राप्त कर सकें। धार्मिक भावनाओं के प्रचार का ही फल होता है कि प्रत्येक गृहस्थ बलि-वैश्वदेव करके सम्पूर्ण भूतों को, होम से देवताओं को, श्राद्ध से पितरों को तृप्त करता है। वह समझता है कि हम केवल अपने ही लिए नहीं किन्तु सम्पूर्ण विश्व के हित के लिए जन्मधारी हुए हैं।

धार्मिक भावनावाले अमीर-गरीब सभी अपनी सम्पत्ति दूसरों के हित में लगाना चाहते हैं, स्वयं दूसरों से नहीं लेना चाहते। शास्त्र लेने-वाले को लेने से मना करते और देनेवाले को देने का उपदेश देते हैं। देनेवाले ले लेने की प्रार्थना और लेने वाले लेने से बचने का यत्न करते हैं। इसके विपरीत वर्तमान काल की दशा है— देनेवाले देना नहीं चाहते, लेनेवाले लेना चाहते, किसी को सन्तोष नहीं। धर्मभावनाओं के न्यून होने पर विषयी, अजितेन्द्रिय श्रीमान् विषयों के किंकर हो जाते हैं, गरीबों के हिस्से की' धर्म और विद्याप्रचार के हिस्सेकी भी सम्पत्ति को अपने भाग में लगा देते हैं। अधिक भोगासक्त होने से निर्वीर्य हो जाते हैं, जिससे सन्तानों में कमी या निर्वीर्यता आ जाती है। दत्तक विधानों से निकृष्ट खानदान के लोग सम्पत्ति के मालिक बनते हैं, उनमें भी काम क्रोधपरायणता की मात्रा अधिक होती है। दरिद्रों की सन्तान बहुत बढ़ जाती है, धनिकों को लाखों खर्च करने पर भी सन्तान नहीं होती। इस तरह ज्यादा से ज्यादा धन मुट्ठीभर मनुष्यों के हाथ में रहता है और

अधिक से अधिक लोग दरिद्र रहते हैं। इधर धनमद से प्रमाद, अत्याचार और कामपरायणता बढ़ती है, उधर दरिद्रता से व्यभिचार, चोरी, डाका आदि दुराचार की वृद्धि होती है। फलतः दोनों ही तरफ संघर्ष बढ़ जाता है। इसी खींचातानी में तरह तरह के आन्दोलन, किसान जमीन्दार, मजदूर-मालिक आदिकों की लड़ाइयां बढ़ जाती है। जबतक धनिकवर्ग स्वयं सदाचारी नहीं होता, स्वार्थान्धता से मुक्त नहीं होता तब तक उसके धर्मप्रचार परभी जनता विश्वास नहीं करती। फलतः एक दिन मारकाट फैलकर साम्यवाद का जन्म होता है, पूंजीपति, मिलमालिक जमीन्दार, राजा, रईस मारे जाते हैं, धर्माधर्म और ईश्वर भी विषमता के बीच समझे जाकर बहिष्कृत होते हैं, मठों, मन्दिरों, धर्माचार्यों की भी दुर्गति हो जाती है, जहां हो सका सर्वथा बराबरी का प्रयत्न किया जाता है, काम, दाम, आराम की बराबरी का प्रयत्न होता है। परन्तु यह अव्यावहारिक बात है। सबकी स्थिति समान नहीं होती, कोई अधिक काम करने की ताकत रखता है, कोई नहीं, कोई अधिक बुद्धिमान होता है कोई नहीं कोई दो मन बोझा उठा सकता है, कोई पांच सेर भी नहीं उठा सकता, कोई दस मिनट में दस हजार का काम करता है, कोई दिनभर में भी दो आना ही कमाता है। न्यायाध्यक्ष और चपरासी, इंजीनियर और ईंट ढोनेवाले मजदूर की समान हैसियत नहीं हो सकती, दोनों की समान खुराक भी नहीं हो सकती। यदि इन सबके दाम में बराबरी कर दी जाय, तो अधिक बुद्धिमान, अधिक बलवान और काम करने की क्षमता पैदा करने की कोई भी प्रयत्न ही नहीं करेगा। अतः अन्त में मात्स्यन्याय फैलने पर युद्धादि-कार्य्यसञ्चालन के लिए किसी विशिष्ट व्यक्ति

की अपेक्षा होती है। इसीलिए अन्त में चुनाव करके एक को राष्ट्रपति बना लिया जाता है। चुनावों की प्रथा कुछ दिन तक चलती रहती है। इसमें भी जब दलबन्दियाँ चलती हैं, अखबारों, पत्र-पत्रिकाओं, व्याख्याताओं के प्रचारों से जब अयोग्य व्यक्ति जनप्रतिनिधि बनाये जाते हैं और पक्ष-विपक्ष बनकर प्रजा में उपद्रव मचाने लगते हैं, तब किसी योग्य पुरुष को पूर्णाधिकार देकर अधिनायक बना दिया जाता है। प्रायः वह सम्राट् बन बैठता है और शक्ति अनियन्त्रित होने के कारण अत्याचार में प्रवृत्त हो जाता है; तब उसको फिर सिंहासनच्युत करके शक्ति कई लोगों में बाँटने की आवश्यकता प्रतीत होती है।

इस तरह इतिहास अपने आप को बार-बार दुहराया करता है। यदि धर्मनियन्त्रित हुआ, तब तो ठीक ही है, अन्यथा उच्छृंखल साम्राज्यवाद या अधिनायकवाद बिना ड्राइवर की मशीन के समान अत्यन्त भयानक होता है। अतः हर समय धार्मिक भावनाओं का प्रचार परमावश्यक है, उसके बिना सुख-शान्ति नहीं होती, अतएव धर्मनियन्त्रित राजा का परम कर्त्तव्य है कि वह धर्मसंस्थापन में पूर्णरूप से प्रयत्नशील हो। जो अन्याय से राष्ट्र को पीड़ित करके कोषवर्धन करता है, वह राजा शीघ्र ही गतश्री होकर सपरिवार नष्ट हो जाता है—

"अन्यायेन नृपो राष्ट्रात्स्वकोशं योऽभिवर्धयेत्।
सोऽचिराद्विगतश्रीको नाशमेति सबान्धवः॥"

प्रजापीड़न-सन्ताप से उत्पन्न अग्नि राजा के कुल, श्री और प्राणों को बिना दग्ध किये निवृत्त नहीं होता—

"प्रजापीडनसन्तापसमुद्भूतो हुताशनः।
राज्ञः कुलं श्रियं प्राणांश्चादग्ध्वा न निवर्त्तते॥"

न्यायतः अपने राष्ट्र के पालन करने में राजा को जो पुण्य प्राप्त होता है, वशीभूत दूसरे राष्ट्र के पालन में भी उसको वैसा ही पुण्य प्राप्त होता है—

"य एव नृपतेर्धर्मः स्वराज्यपरिपालने।
तमेव कृत्स्नमाप्नोति परराष्ट्रं वशं नयन्॥"

जिस देश में जो आचार और व्यवहार तथा जैसी कुलमर्यादा हो, उनका उसी तरह पालन करना चाहिये, अपने आचार के साथ सांकर्य सम्पादन का प्रयत्न कभी भी न करना चाहिए—

"यस्मिन्देशे य आचारो व्यवहारः कुलस्थितिः।
तथैव परिपाल्योऽसौ यदा वशमुपागतः॥" (याज्ञ०)।

एतावता यह सिद्ध होता है कि राजा को किसी के धार्मिक आचार विचारों पर हस्ताक्षेप न करना चाहिये। जो आरोप किया जाता है कि आर्य्यों ने दूसरे देशों को पराजित करके उन्हें जंगलों में निकालकर अस्पृश्य बना दिया, उनकी सभ्यता को नष्ट कर दिया, ये धारणाएं सर्वथा गलत हैं। राम ने लंका जीतकर विभीषण को दे दी बाली को जीतकर किष्किन्धा सुग्रीव को दे दी, कृष्ण ने कंस को जीतकर मथुरा उग्रसेन को दे दी, जरासन्ध को जीतकर राज्य सहदेव को दे दिया। अनेक ऐसे उदाहरण मिलेंगे कि आर्य्य राजाओं ने अन्यायी राजा को जीतकर उसके उत्तराधिकारी को ही राज्य दे दिया। एतावता जो कहते हैं कि आर्य्यों ने बहुत जातियों को अपने में पचा डाला, यह भी असंगत

है, क्योंकि आर्यों को पहले से ही अपने धर्म की रक्षा में तत्पर रहते थे, वैसे ही अन्य राष्ट्रों के धर्मशास्त्र में भी सावधान रहते थे।

धर्मनियन्त्रित राजा ब्राह्मणों के प्रति क्षमावान्, स्निग्ध, मित्रों से अजिह्म, अवक्र रहता है, शत्रुओं में क्रोधन, भृत्यों और प्रजाओं के प्रति हिताचरण और अहित-निवर्तन में पिता के समान दयावान् रहता है—

"ब्राह्मणेषु क्षमी स्निग्धेष्वजिह्मः क्रोधनोऽरिषु।
स्याद्राजा भृत्यवर्गेषु प्रजासु च यथा पिता॥"

यदि राजा न्याय से प्रजा का परिपालन करता है, तो प्रजा के पुण्य से षष्ठांश राजा को प्राप्त होता है। इसीलिए राजा के लिए सम्पूर्ण दानों से अधिक प्रजापालन ही है—

"पुण्यात्षड्भागमादत्ते न्यायेन परिपालयन्।
सर्वदानाधिकं यस्मात्प्रजानां परिपालनम्॥"

प्रतारकों, तस्करों, ऐन्द्रजालिक, कितवादी दुर्वृत्तों, बलात् धनापहरण करनेवाले महासाहसिक नास्तिकों से विशेषतः लेखक, गणकादि से पीड्यमान प्रजा का रक्षण परमावश्यक है—

"चाटतस्करदुर्वृत्तमहासाहसिकादिभिः।
पीड्यमानाः प्रजा रक्षेत्कायस्थैश्च विशेषतः॥"

राजा से अरक्षित होकर प्रजा जो भी किल्बिष करती है, उसमें से आधा भाग राजा को मिलता है, क्योंकि वह प्रजा से कर ग्रहण करता है—

"अरक्षमाणाः कुर्वन्ति यत्किञ्चित्किल्विषं प्रजाः।
तस्मात्तु नृपतेरर्धं यस्माद् गृह्णात्यसौ करान्॥"

अतः कर्मचारियों की गतिविधियों को गुप्तचरों से समझकर अच्छे लोगों का सम्मान और बुरे लोगों को दण्ड देना चाहिए, उत्कोच (घूस) लेनेवालों को सर्वथा धनहीन करके निकाल देना चाहिए, दान, मान, सत्कार के साथ श्रोत्रियों को अपने देश में टिकाना चाहिये—

"ये राष्ट्राधिकृतास्तेषां चारैर्ज्ञात्वा विचेष्टितम्।
साधून् सम्मानयेद्राजा विपरीतांश्च घातयेत्॥
उत्कोचजीविनो द्रव्यहीनान् कृत्वा विवासयेत्।
सदानमानसत्कारात् श्रोत्रियान् वासयेत्सदा॥"

धर्मनियन्त्रित राजा को सर्वदा महान् उत्साहशाली, बहुदर्थदर्शी, कृतज्ञ तथा वृद्धों का सेवक होना चाहिए; विनीत तथा हर्ष-विषाद से रहित होना चाहिए, कुलीन, सत्यवाक् एवं पवित्र होना चाहिए, अदीर्घसूत्र, स्मृतिमान्, उदार, परदोष का कीर्तन न करनेवाला, धार्मिक (वर्णाश्रमधर्म का आदर करने वाला) होना चाहिए, निर्व्यसन भी होना चाहिए। मृगया, द्यूत, दिवास्वप्न, परिवाद, स्त्रियाँ, मद्यपान, नृत्य, वादित्र, गीत और वृथाभ्रमण ये दश कामज व्यसन होते हैं। पैशून्य (अविज्ञात दोषाविष्करण), साहस (सद्गुरुओं का वध, बन्धनादि), द्रोह (छद्मवध), ईर्ष्या (अन्यगुणासहिष्णुता), असूया (परगुणों में दोषाविष्करण), अर्थदूषण (अर्थापहरण और देय का अदान), वाक्पारुष्य (कटुवाद), दण्डपारुष्य (ताडनादि) ये आठ क्रोधज व्यसन हैं। कामज व्यसनों में पान, द्यूत, स्त्री और मृगया ये चार एवं

क्रोधज में दण्डपातन, वाक्पारुष्य, अर्थदूषण, क्रमेण ये कष्टतम व्यसन हैं। इन व्यसनों से रहित होकर प्राज्ञ, निर्भय, रहस्यवित्, रन्ध्रगोप्ता, अध्यात्म विद्या, अर्थ, योगक्षेमोपयोगिनी दण्डनीति में धनोपचय-निमित्त कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य, पशुपालनरूप वार्त्ता में साथ ही त्रयी अर्थात् ऋक्-यजुरादि वेदविद्या में दक्ष होना चाहिए। मनु कहते हैं—

"त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिञ्च शाश्वतीम्।
आन्वीक्षिकीञ्चात्मविद्यां वार्त्तारम्भांश्च लोकतः॥"

इन सब बातों से स्पष्ट होता है कि आधुनिक वादों में पड़ना व्यर्थ है, उनका कोई स्थायी आधार नहीं उनसे केवल संघर्ष ही बढ़ेगा, कभी भी शान्ति और परस्पर प्रेम स्थापित न होगा। इसलिए अपने शास्त्रों द्वारा बताते हुए मार्ग पर ही चलना चाहिए। इसी से अपने देश और साथ ही सारे विश्व का कल्याण होगा।



दरिद्रता का रहस्य

कुछ लोगों के प्रश्न हुआ करते हैं कि क्या कारण है कि धर्मात्मा ईश्वरभक्त और ज्ञानी होते हुए भी भारत परतन्त्र, दरिद्र और दुःखी है। अन्यान्य देश अधिक मात्रा में ईश्वर और धर्म से विमुख होने पर भी स्वतन्त्र शान्त एवं सुखी हैं। क्या धर्मात्माओं के लिए सदा दुःखी और परतन्त्र रहने का भी कोई सिद्धान्त है? उनके इन प्रश्नों पर विचार करते हुए पहले यह देखना चाहिए कि क्या वास्तव में धर्म और ईश्वर से विमुख देश शान्त एवं सुखी हैं या हमको ही उनके सुख का केवल भ्रम है। यह ठीक है कि कुछ लोगों ने वैज्ञानिक आविष्कार के चमत्कारों से संसार को चकित कर दिया है और कुछ लोग धनधान्यादि भोग सामग्रियों से सम्पन्न दिखाई देते हैं। रेल, तार, बिजली, रेडियो हवाई जहाज तथा अन्यान्य सुख-सामग्री-सम्पन्न गगनचुम्बिनी अट्टालिकाओं से कुछ लोग स्वर्गीय ही जान पड़ते हैं। परन्तु इतने से ही सारे देश के सुख की कल्पना नहीं होती। इसके अतिरिक्त धन तथा सुख-सामग्रियों से सम्पन्न लोग भी शान्त और सुखी नहीं होते। वे दूसरों की दृष्टि में देवदुर्लभ सुख अवश्य भोगते हैं, परन्तु जितने वे तप्त और दुःखी होते हैं, उसका ज्ञान उन्हें या उनके सहवासियों को ही है। फिर भी कहीं भूकम्प, कहीं ज्वालामुखी विस्फोट, कहीं समुद्र का प्रकट हो जाना आदि अनेक भयावह उपद्रव होते हैं, जिनमें बड़ी से बड़ी सम्पत्तियाँ, भवन एवं यन्त्र आदि नष्ट हो जाते हैं। अधिक क्या ईश्वर और धर्म की परवाह न करके निज

बुद्धि-वैभव के मद में उन्मदान्ध होकर जो नानाप्रकार के उत्पादक-संहारक यन्त्र, मशीन, कलपुर्जे तैयार किये जाते हैं, वे ही उनके संहार के कारण बन जाते हैं। कहना न होगा कि वही संहारलीला उनकी सभ्यता और स्वतन्त्रता (उच्छृंखलता) के रूप में आज भी दृष्टिगोचर हो रही है।

कितने ही अभिज्ञ पाश्चात्य भारत की प्राचीन सभ्यता-संस्कृति के भक्त दिखाई देते हैं। कितने ही दरिद्र कहे जानेवाले देश के जल, वायु, सूर्य, चन्द्र, ताराओं के निर्दोष निरावरण दर्शन से मुदित होते हैं। अपने जीवन को सुखमय बनाने के लिए कितने भारत में वास करते हैं और आज भी विश्व को सुख-शान्ति का आलोक प्रदर्शन करने में भारत को समर्थ मानते हैं। इसकी सभ्यता-संस्कृति को ही विश्व की शान्ति का मूल मानते हैं। यह ठीक है कि अतिपरिचय से अवज्ञा होती है, तभी यहाँ के लोग स्वास्थ्यसुधार या आत्मसुधार के लिए विदेश जाते हैं। वस्तुतः केवल भौतिक उन्नति ही उन्नति नहीं है। सौख्यसाधन-सम्पत्ति ही सब-कुछ नहीं है। यह भी मान्य है कि आनन्द और उसकी अनेक सामग्रियाँ सत्कर्मों के ही फल हैं। जहाँ भी जो भी कोई प्रसन्न, स्वस्थ एवं समुन्नत है, वो अवश्य ही जन्मान्तर की सुकृति है। इस जन्म के प्रयत्न भी सुसम्पादित कि कारण बनते हैं, परन्तु निमित्त और सहकारी मात्र हैं। मुख्य रूप से वर्तमान जाति, आयु, भोग के निदान तो प्राक्तन प्रारब्ध कर्म ही है। नवीन प्रयत्न तो सहकारीमात्र होते हैं। अतः धर्म के परिणाम में ही सब प्रकार के अभ्युदय हुआ करते हैं। कोई वर्तमान काल में धनहीन दुःखी है, इससे पहले भी ऐसा ही रहा हो, यह नहीं

कहा जा सकता। वस्तु-स्थिति ऐसी है कि प्राणी धर्म, तपस्या एवं भगवदाराधन से ही अभ्युदय प्राप्त करता है। परन्तु अभ्युदय प्राप्त कर लेने पर सावधानी से सन्मार्ग पर चलना बड़े भाग्य की बात है। प्रायः ऐश्वर्य के मद में उन्मत्त होकर प्राणी धर्म का उलंघन करके उन्मार्गगामी हो जाते हैं। उस समय साधारण लोग उनकी उच्छृंखलता और ऐश्वर्य्य देखकर भ्रान्त हो उठते हैं कि उच्छृंखलता ही ऐश्वर्य का मूल है। परन्तु यह स्पष्ट ही है कि जैसे कार्तिक में बोये हुए यव या गेहूं आदि के बीज ही चैत्रमें फल देते हैं। चैत्रमें बोये हुए बीज उस समय फल नहीं दे सकते, अर्थात् बीज के समकाल ही फल नहीं होता, वैसे ही कालान्तर के ही कर्म वर्तमान में फल देते हैं। वर्तमान के कर्म भविष्य में फल देंगे अतः वर्तमान का धर्मात्मा भी जन्मान्तर के दुष्कर्म के कारण दुःखी और विपन्न हो सकता है और वर्तमान का धर्म विरोधी उच्छृंखल भी धर्मान्तर के पुण्य-प्रभाव से सुखी और उन्नत हो सकता है। स्वभाव से दुःखी दरिद्र एवं अशान्त प्राणी को अपने आप को पहचानने का अवसर मिलता है। धर्म और ईश्वर की आवश्यकता भी उसी को प्रतीत होती है।

"असतः श्रीमदान्धस्य दारिद्यं परमाञ्जनम्॥
आत्मौपम्येन भूतानि दरिद्रः परमीक्षते॥

अर्थात् श्रीमद से अन्धा हुआ प्राणी अनेक अनर्थ कर सकता है। 'तप से राज्य राज्य से नरक' यह भारत की कहावत प्रसिद्ध ही है। उस अन्धता-निवृत्ति के लिए दरिद्रता ही एक सुन्दर अञ्जन है। जिसके पैर में कभी कण्टक लगा होता है, वही व्यथा को जानता है। दुःखी

और दरिद्रता ही दूसरों के दुःखों को पहचान सकता है। अपने समान ही दूसरों के सुख-दुःखों को जानना यह भी एक बड़ा योग है। इस तरह प्राक्तन सत्कर्मों के प्रभाव से ऐश्वर्य प्राप्त हुआ और उसके मद को संभाल न किया गया, तो उच्छृंखलता के कारण अग्रिम पतन अनिवार्य है। प्राक्तन दुष्कृत के परिणामस्वरूप दरिद्रता एवं विपत्ति में आत्मोद्धार के अनुकूल उत्थान होना भी स्वाभाविक ही है। दुःख या दरिद्रता पापों के दण्डरूप में मिलती है। दण्ड के बाद शुद्धि और सद्भावना का संचार होना चाहिए। यदि सौभाग्यवश विचार और वैराग्य का योग मिल जाता है, तो फिर दरिद्रता और विपत्तियां बड़ी ही आदरणीय हो जाती हैं। श्रीकुन्ती ने तो भगवान् से विपत्तियों का ही वरदान मांगा है—

"विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्"

हे भगवन्! मुझे तो विपत्तियां ही बार-बार मिलें, क्योंकि विपत्तियों में आप कृपा करके दर्शन देते हैं। जिस ऐश्वर्य्य के मद में आप का विस्मरण हो, उस ऐश्वर्य से तो वह विपत्तियां ही श्रेष्ठ हैं, जिनमें प्रतिक्षण भगवान् का दर्शन और स्मरण होता रहे। किसी ने एक सम्राट् से कहा है—

"वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वञ्च लक्ष्म्या
सम इह परितोषो निर्विशेषो विशेषः"

अर्थात् हे राजन्! आप अपनी राज्यलक्ष्मी से तुष्ट हैं, हम, अपने वल्कलों से संतुष्ट हैं। परितोष की दोनों ओर बराबरी होने पर भी निर्विशेष (भक्ष) हमारे पक्ष में विशेष है। भारत में वह अद्भुत अध्यात्मविद्या

थी कि जिसके लिये बड़े-बड़े चक्रवर्ती सम्राट्‌ साम्राज्य त्यागकर वनों में तपस्या करने जाते थे, जहाँ "कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः" समझे जाते थे। उस समय साम्राज्यश्री तो क्या त्रैलोक्यश्री भी भारतीय विद्वानों के चरण में लोटती थी। परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं कि पूर्व जन्म के पापी एवं इस जन्म के दरिद्र ही धार्मिक एवं भक्त होते हैं या अपना कर्म ठोककर दरिद्रता दूर करने का प्रयत्न ही न करना चाहिए। कहना इतना ही है कि कहीं विचारयुक्त दरिद्रता महापुण्यों का फल भी है। इसीलिए गीता में भ्रष्टों की दो गति कही गयी है। उनमें एक तो यह कि पवित्र श्रीमानों के यहाँ जन्म पाना और दूसरी योगियों, वीतरागों, दरिद्र ब्राह्मणों के घर जन्म होना। उनमें द्वितीय पक्ष को अतिदुर्लभ कहा गया है—

"एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्।"

विचारहीन दरिद्रता अवश्य शोचनीय है। विचार-विवेक-युक्त ऐश्वर्य भी प्राणियों के लिए आत्मकल्याण में अनुकूल हो सकता है। मनु, प्रियव्रत, इक्ष्वाकु प्रभृति महान्‌ ऐश्वर्यशाली लोग परमविवेकी और आस्तिक थे। वे भी कुछ कम कोटि के नहीं थे, परन्तु महत्ता में ऐश्वर्य उतना कारण नहीं समझा जाता जितना कि विवेक-विचार। विवेक, विचार एवं अभ्युत्थानानुकूल प्रयत्न के विना केवल भोगसामग्री महत्त्व का मूल नहीं होती। पाश्चात्य राजाओं के कुत्तों को जितना सुखभोग प्राप्त होता है, उतना बड़े धनीमानियों को भी दुर्लभ है। विचित्र ढंग के उपचार के लिए कितने ही भृत्य नियुक्त होते हैं। यह कुत्ता भी पूर्व जन्म का कुछ काम पुण्यात्मा नहीं है, क्योंकि सुखमात्र पुण्यों का ही फल है। उस कुत्ते के ऐहिक सुखभोग को तो कल्पना भी

नहीं हो सकती। देश, काल, पात्र आदि का विवेचन बिना किये धर्म का फल तो होता है, परन्तु कहीं श्वान बनकर या श्वान के समान ही अविवेकी मनुष्य बनकर सुखमात्र भोगा जा सकता है। परन्तु भविष्य सर्वथा अन्धारमय ही होता है। अभिज्ञ वर्तमान सुखों पर ही ध्यान न देकर परिणाम में हितकारी साधारण सुखों का ही आदर करते हैं। पूर्ण चन्द्रमा के दर्शन पर विवेकियों को उतना आह्लाद नहीं होता, जितना द्वितीया के चन्द्रदर्शन में, क्योंकि पूर्णिमा के चन्द्रमा की उन्नति हो चुकी, अब वह अवनति की ओर जायगा, पर द्वितीया का चन्द्रमा यद्यपि स्वल्प है, तथापि वह उन्नति की ओर अग्रसर होनेवाला है वर्तमान जीवन कुछ कष्टमय भी क्यों न हो परन्तु यदि उससे भविष्य कल्याणमय बनाया जा रहा हो, तो हर्षोल्लास का ठिकाना नहीं।

इसके सिवा कुछ यह बात भी है कि कुशिक्षा और कुसंसर्ग के कारण भारतीय लोग अपने शास्त्रोक्त कर्तव्य तथा अधिकार को भूल गये। उसी के दुष्परिणामरूप में भारत का यह पतन हुआ है। उसी के कारण नैतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक पतन भी काफी हो चुका। अधिकार-निर्णय के लिए अपनी संस्कृति, सभ्यता, साहित्य के अध्ययन की अपेक्षा होती है। दुर्भाग्यवश भारत आज उससे भी वंचित हो गया है। अपने शास्त्र और साहित्य के सेवियों में भी क्रियाशील विवेक की कमी हो गयी है। शास्त्रों के अनुसार अधिकार समझने पर प्रवृत्ति-निवृत्त दोनों ही सफल हो सकते हैं, आध्यात्मिक, अधिभौतिक दोनों ही प्रकार की उन्नतियां सम्पन्न हो जाती हैं। परन्तु बिना अवसर और अधिकार के प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही पतन के मूल होते हैं।

भारत के वर्तमान लोगों में अनधिकार चेष्टाएं बहुत बढ़ गयी हैं। निवृत्तिमार्ग के लोगों को प्रवृत्ति रुचती है और प्रवृत्तिमार्ग के लोगों को निवृत्ति। प्रथम के विवेकी लोग अनवसर के वैराग्य और निवृत्ति को बड़े विवेक से हटाते थे। अर्जुन के वैराग्य और निवृत्ति की आकांक्षा को श्री-कृष्ण ने कितनी चतुरता से निवृत्त किया था। कुमति रहना, प्रवृत्ति में हर समय विचार निवृत्ति का रहना, यह अवश्य ही कार्य में बाधक होता है। अनवसर का वैराग्य और अनुत्साह ही भारत के पतन का मूल है। शास्त्रों के अभ्यास से अधिकार-निर्णयसहित उत्साह से प्रवृत्ति-निवृत्ति का सेवन करने से ही आध्यात्मिक, आधिभौतिक सब प्रकार की उन्नति होती है।

शास्त्रों में स्त्रियों की निन्दा

स्त्रियाँ केवल भोगसामग्री या बच्चा पैदा करने का यन्त्र ही नहीं, अपितु, वे प्रत्यक्ष लक्ष्मी हैं। उनके सतीत्व की विशेषता से वेद-शास्त्र पुराणों के अमित पृष्ठ रञ्जित हैं। पुरुष के चरित्र भ्रष्ट होने पर वही उस दुष्परिणामों का भोक्ता होता है, स्त्री का चरित्र भ्रष्ट होने से मातृ तथा पितृकुल दोनों ही कलंकित और अपमानित होते हैं। स्त्रियां सदाचारिणी एवं पतिव्रता रहकर पतिकुल तथा पितृकुल दोनों का कल्याण कर सकती हैं। सती नारी साक्षात् गङ्गा किंवा उमामहेश्वरस्वरूप मानी गयी है —

'न गङ्गया तथा भेदो या नारी पतिदेवता।
उमामहेश्वरः साक्षात् तस्मात्तां पूजयेद् बुधः॥"

"स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु। त्वयैकया पूरितमम्बयैतत्॥"

इत्यादि भावनाओं के सामने क्षुद्र विषयेन्द्रिय-सम्प्रयोगज सुखों का कितना मूल्य रह जाता है? स्त्रियों के इन्हीं उदात्त भावों के रक्षार्थ धर्मशास्त्रों के कठोर नियम हैं। यद्यपि तर्क की दृष्टि से कहा जा सकता है कि ये ही नियम पुरुषों के लिए भी उचित होने चाहिए, तथापि धर्मशास्त्रों में शरीर, इन्द्रिय, स्वभाव शक्ति, प्रकृति की विलक्षणता को देखते हुए इनके रहन-सहन, कर्तव्यों आदि में भेद रखा है। जैसे सब रोगों के लिए समान औषधियों का प्रयोग नहीं हो सकता, वैसे ही हरएक अधिकारी के लिए समान कर्म भी नहीं हो सकते। स्पष्ट है कि जो

साल में एक ही गर्भ धारण कर सकती है, परन्तु पुरुष तो कई गर्भाधान कर सकता है। पुरुष के लिए यज्ञ, तप, दान, त्याग की विशेषता है। अग्निहोत्रादि वैदिक कर्म बिना दारपरिग्रह के नहीं हो सकते। पुरुष का विधुर जीवन निषिद्ध है। अतः वैदिक कर्म-कलाप प्रचलित रहने के लिए पुरुष का पुनर्विवाह सङ्गत है। परन्तु स्त्री की तो पतिसहगमन या वैधव्यधर्मपालन में ही परमसद्‌गति सम्भव है।

अतएव पति के अभाव में उसका प्रवृत्तिमार्ग निरुद्ध हो जाता है। कहा जाता है कि पुरुषों ने द्वेषवश स्त्रियों पर अत्याचार किया है। जहाँ-तहाँ शास्त्रों में भी स्त्रियों की बहुत निन्दा की गई है, परन्तु ऐसा कहने वाले स्त्रियों की प्रशंसाओं की बातों को भूल जाते हैं। हिन्दू-शास्त्रों में जैसा माता को सम्मान मिलेगा, वैसा कहीं भी नहीं मिल सकता। पिता से भी दशगुणित अधिक माता का गौरव माना गया है—

"पितुर्दशगुणं माता गौरवेणातिरिच्यते।"

सीता, सावित्री, अरुन्धती, अनुसूया, कौशल्या, सुमित्रा, प्रभृति सतियों का जितना आदर और सम्मान शास्त्रों में है, उसे देखते हुए किसे कहने का साहस हो सकता है कि यहाँ स्त्रियों का अनादर है? मनु भगवान् स्पष्ट लिखते हैं कि "स्त्रियाँ साक्षात् लक्ष्मी हैं। उनकी पूजा जहाँ होती है, वहाँ सब प्रकार की समृद्धि होती है जहाँ इनका अपमान होता है, वहाँ सब प्रकार की विपत्ति आती है।" प्रमादियों द्वारा उनका अपमान भी अवश्य होता है, परन्तु इतने से शास्त्रों और शास्त्रनिष्ठों पर दोषारोपण नहीं किया जा सकता। शास्त्रों में जो स्त्रियों के दोषों का प्रसङ्ग है, वह कुछ स्थलों में वैसे स्वभाववालियों का स्वभावानुवाद और कुछ स्थलों में वैराग्य के